वैदिक धर्म

वर्ष ४५ : अंक १२ : दिसम्बर १९६४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

'वैदिक धर्म' वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५० डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिकधर्म

सर्वद्रष्टा वरुण

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानां
अक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥ ५ ॥

(अथर्व. ४।१६।५)
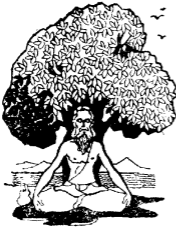
(यत् रोदसी अन्तरा यत् परस्तात्) जो भूमि और द्युलोकके बीचमें या उससे भी परे है, (राजा वरुणः तत् सर्वं विचष्टे) राजा वरुण उस सबको देखता है। (जनानां निमिषः अस्य संख्याताः) मनुष्योंकी पलकोंके झपकोंको भी यह गिन लेता है (श्वघ्नी अक्षान् इव) जिस प्रकार जुआरी पांसोंको नापता है, उसी प्रकार वह (तानि निमिनोति) उनको नापता है।

इस सर्व व्यापक वरुण देवसे कोई भी पापी बचकर कहीं भी नहीं भाग सकता। व्रतभंग करनेवाला उसके पाशोंसे हमेशा बंधा रहता है। वह वरुण सर्वद्रष्टा है। इसलिए उससे कुछ भी अज्ञात नहीं है।

* * *

पाश

लेखक— श्री डॉ. मुंशीराम शर्मा, डी. लिट्. आर्यनगर, कानपुर

★

वरणीय वरुणदेवके पाश व्रतभंग करनेवालोंको सभी स्थानों और कालोंमें आबद्ध कर लेते हैं। जो पाप करता है, वह इन पाशोंमें जकड़ा जाता है। व्रत कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ नैतिक हैं। इनमेंसे किसी भी व्रतको तोड़नेवाला दण्डका भागी बनता है। स्वास्थ्यके नियमोंका न पालन करना प्राकृतिक व्रतका भंग है। झूठ बोलना, चोरी करना आदि नैतिक व्रत-भंगके अन्तर्गत हैं। हम चाहे जितना भी छिपकर व्रत-भंग करें, पृथिवी पर पृथिवीके उपर या उससे भी परे, वरुणके सहस्राक्ष स्पश (दूत) हमें देख ही लेते हैं—

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् (अथ. ४।१६।५)

वरुणदेवके पाश सैकडों और सहस्रों हैं अर्थात् अगणित हैं, पर वे सब तीन भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। ऋ. १।२४।१५ के अनुसार ये उत्तम, मध्यम तथा अधम पाश हैं। ये त्रेधा पाश अथर्वकी निम्नाङ्कित ऋचाके अनुसार सप्त सप्त प्रकारके भी वर्णित हुये हैं—

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त
त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं
यः सत्य वाद्यति तं सृजन्तु (अथ. १६।६)

वरुणदेवके तीन प्रकारके पाश ही सात सात प्रकारके हैं। ये सात प्रकारके पाश 'सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुः। (अथ. ५।१।६)' सात मर्यादाओंका भी स्मरण दिला देते हैं। सात मर्यादाओंको तोडना मानों सात प्रकारके पाप करना है। ये सात मर्यादायें प्राकृतिक भी हैं और नैतिक भी। अतः दो बार सप्त शब्दका प्रयोग हुआ है। प्राकृतिक क्षेत्रमें इनका सम्बन्ध महत्तत्व, अहंकार तथा पंचतन्मात्राओंसे है। इन सातोंको स्वस्थ रखना तथा समृद्ध करना प्राकृतिक मर्यादा है। नैतिक क्षेत्रमें इनकी स्वस्थता तथा समृद्धिके सदुपयोग करनेकी मर्यादा है। यह उपयोग चेतनाकी अपेक्षा रखता है, अतः नैतिक अन्तर्गत आता है। पर ये सात सात प्रकारके पाश प्रमुखतः तीन ही प्रकारके ही हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसके ये तीन गुण अपने तो हैं ही, पर जब वे चेतना पक्षपर आ जाते हैं तो उसे भी अपने रंगमें रंग लेते हैं। इन्हींके कारण जीवात्मा परमात्मासे संयुक्त होकर भी, उसका सयुजा और सखा होकर भी उससे वियुक्त हो जाता है।

प्रभु निकटतम हैं फिर भी दिखाई नहीं देते; अनुभवमें नहीं आते और जैसे कोई अपरिचित, दूरस्थ व्यक्ति सम्पर्कसे पृथक् रहता है, वैसे ही वे भी हमसे रहते हैं। अपना होते हुये भी बिराना, निकट होते हुये भी दूर, अन्तर्यामी होते हुये भी प्राप्तिसे परे, ऐसा क्यों है? वेद कहता है, 'प्रभु दूर भी हैं और समीप भी। समीप उनके लिये है जिनके पाश छिन्न हो चुके हैं। दूर उनके लिये है जो पाशोंमें जकडे हुये है। ये पाश दो प्रकारके भी माने गये हैं– यज्ञिय और अयज्ञिय। अयज्ञिय पाशोंमें तमोगुण एवं रजोगुणसे सम्बन्धित दोषोंकी गणना है। यज्ञिय पाशोंमें सत्वगुणके बन्धन हैं। जबतक हम इन तीनों पाशोंसे मुक्त नहीं होते तबतक प्रभुका साक्षात्कार करनेके अधिकारी नहीं हैं। तमोगुण और रजोगुणके बन्धनोंको अयज्ञिय पाश कहा गया है क्योंकि इनसे मानव पापमें लिप्त होता है, दुष्कर्म करता है और परिणामतः पतित होता है। अघ जब पीछे पड गया तो भद्र या शुभ या कल्याणका हस्तगत होना कठिन ही नहीं असम्भव है। भद्र, शुभ्र या सत् उन्नयनकी आधार शिला है। जबतक हम सत्वकी स्थितिमें नहीं पहुंच पाते, तबतक अधोगति ही अधोगति है। उर्ध्वगमन सत्वकी अवस्थामें ही सम्भव है। इसके लिये प्राणपणसे उद्योग करना पडता है। उद्योग द्वारा हम पापके संसर्गसे हटकर अन्ध प्रकृतिसे विमुक्त होकर, प्रकाशमें पहुंचते हैं और सन्धिनी शक्तिके सहयोग द्वारा उस परमतत्वके साथ संयुक्त होनेके अधिकारी बनते हैं।

सत्वको जो यज्ञिय पाश कहा गया है उसका भी एक कारण है। सत्वगुण शुभ या भद्रका प्रापक तो है, पर यह अहंकारसे भी मिला हुआ है। मैं सत्पुरुष हूं, सच्चरित्रसे सम्पन्न हूं, धर्मिष्ठ हूं, ऐसी भावना जीव और प्रभुके बीच आवरणका कार्य करती है। सत्व हमें उठाता है, पर अहमितिसे संयुक्त होकर गिराता भी है। एक अन्य दृष्टि भी है जिसके अनुसार यह शुभ कर्मोसे समन्वित करके हमें भोग-

वादी भी बताता है। देवताओंकी स्थिति इसी प्रकारकी है। वे स्वर्गमें भोग भोगते हैं, कामचारी होते हैं, स्वच्छन्दतासे सर्वत्र भ्रमण करते हैं, काल और देश दोनोंका व्यवधान उनके सामनेसे हट जाता है। वे निर्द्वन्द्व सुखका उपभोग करते हुये विचरण करते हैं। यह स्थिति भी आर्यसंस्कृतिमें सर्वोत्कृष्ट नहीं समझी गई है। देवोंसे नीचे पितृलोकके निवासी हैं। वे भी भोगवादी हैं। कर्म करनेसे दूर, केवल भोगमें पड़े हुये व्यक्ति अपने भावी जीवनके लिये किसी प्रकारका अर्जन नहीं कर पाते। इसलिये पितर और देव दोनोंकी स्थितिको अच्छा तो कहा गया है पर सर्वोत्तम नहीं। परम गतिको संज्ञा इनसे ऊपर है।

परमगतिको ऋषियोंने व्यक्तित्वके विनाशकी अभिधा प्रदान की है। व्यक्तित्व ही हमें प्रभुके साथ संयुक्त नहीं होने देता। सुषुप्तिमें हम, तम और रजसे दूर रहते हैं परन्तु चेतना तो बनी ही रहती है। संप्रज्ञात समाधिमें भी इसका अक्षुण्ण रहना सिद्ध है। हां असप्रज्ञात समाधिमें सब कुछ विस्मृत हो जाता है। मोक्षमें इस स्थितिकी पराकाष्ठा है। अतः मोक्ष या ब्रह्मरूपता अपने आपको खो देना है, जिसमें 'मैं' नहीं रह पाता। व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। केवल एकमात्र परमतत्त्व रह जाता है। व्यक्तित्वके अभावमें भूतकालके लिये शोक मनाने तथा भविष्यके लिये मोह करनेका कारण अवशिष्ट नहीं रहता। जब मैं ही नहीं रहा, तो कौन विगतसे चिपटेगा और कौन किसी अनागतकी आकांक्षा करेगा। जो न भूत है और न भविष्य है, केवल वर्तमान ही वर्तमान है, वही परम तत्त्व 'ब्रह्म' हमारे निखिल पुरुषार्थका एकमात्र लक्ष्य है।

जैसे पाश अगणित हैं, वैसे ही उनसे छूटनेके उपाय अनेक हैं—

शतं ते राजन् भिषजः सहस्र-
मुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः
कृतं चिदेनः प्रमुमुग्ध्य अस्मत्॥ (ऋ. १।२४।९)

राजा वरुण! तुम्हारे पास तो पापरूपी रोगको दूर करनेके लिये सैंकडों–सहस्रों औषधियां हैं, जो अपने व्यापक तथा गम्भीर प्रभाव उत्पन्न करनेवाली हैं। देव! तुम्हारी सुमति हमें भी प्राप्त हो जिससे निर्ऋति, कृच्छ्रापत्ति, घोर विपदा हमसे दूर, बहुत दूर भाग जावे। जो पाप हमने किया है और जिस पापके कारण हम इस भयंकर विकराल क्लेशके भाजन बने हैं, उस किये हुये पापसे हमें छुडा दीजिये।

त्वं हि विश्वतो मुखः विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम्॥ (अथ. ४।३३।६)

प्रभो! आप कहाँ नहीं हैं? आप तो सर्वत्र विद्यमान हैं और यह जो कुछ दिखाई देता है उससे भी परे विराजमान हैं। आप ही हमारे पापको भस्म कीजिये।

द्विषो नो विश्वतोमुख अति नावेव पारय॥ ७॥

हे सर्व व्यापक! नावकी भाँति अपनी कृपाके द्वारा हमें समस्त द्वेष–रूपोंसे पार लगाईये।

स नः सिन्धुमिव नावा अति पर्षा स्वस्तये॥ ८॥

जैसे नाव पर बैठ कर सिन्धुको पार कर जाते हैं, उसमें डूब नहीं पाते वैसे ही कल्याण–प्राप्तिके लिये आप हमें पार लगा दें। अयज्ञिय ही नहीं, यज्ञिय पाश भी हमें बांधे हुए हैं। इन सभी पाशोंसे आप हमें मुक्त करें।

अयज्ञिय पाश छुडाते नहीं कसकर जकड लेते हैं। यज्ञिय पाश अशुभसे छुडाते हैं पर शुभसे जकडते भी हैं। दोनोंके नाना रूप अवनत एवं उन्नत चेतना– सम्पन्न प्राणियोंमें देखे जा सकते हैं। दोनोंसे ही छूटना मुक्ति है अथवा चेतन गति की पराकाष्ठा है। परम–तत्त्व–प्राप्तिकी स्थिति भी अशुभ एवं शुभ दोनोंसे पृथक् है। यदि हम इस स्थितिको प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें अयज्ञिय एवं यज्ञिय अशुभ एवं शुभ दोनों पाशोंसे मुक्त होना होगा। वेदने अयज्ञिय पाशोंको अधम एवं मध्यम और यज्ञिय पाशोंको उत्तम पाश कहा है। पाश तो पाश ही है, बन्धन तो बन्धन ही है, बेडी तो बेडी ही है फिर चाहे वह लोहेकी हो अथवा स्वर्णकी। कारागार तो कारागार ही है फिर चाहे वह प्रथम श्रेणीका हो अथवा तृतीय या निकृष्ट श्रेणीका। बेडियोंसे जकडा हुआ कारागारमें पडा हुआ व्यक्ति आनन्दी नहीं कहा जाता, जो स्वतन्त्र है, वही आनन्दी है। यह स्वातन्त्र्य प्रकृतिके तीनों गुणोंके पृथक् होनेमें है। बन्धन भी प्राकृतिक ही है। जीवका अपना विशुद्ध रूप प्राकृतिक नहीं, चेतन है। यह चेतन आनन्दांशसे वंचित है। अतः आनन्दकी उपलब्धि ही मुक्ति है। अथर्ववेदके शब्दोंमें '**अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति**' जीव निकट चिपटी प्रकृतिको छोडता नहीं और निकट ही विद्यमान प्रभुको देखता नहीं। यही उसकी सबसे बडी विपत्ति है। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको छोडो और प्रभुका दर्शन करो। इसीमें कल्याण है।

दयानन्द देव जैसे थे, सुधारक हो तो ऐसा हो

(रचयिता— श्री ब्र. योगेन्द्रार्य्य दर्शनाचार्य, गुरुकुल झज्जर)

अविद्यापूर्ण भारतकी, वीर भोग्या क्षितिज तलमें ।
प्रान्त गुजरात मोर्वी, राज्यकी टंकारा नगरीमें ॥
कुलीन ब्राह्मणसम्पन्न, धुरीण धर्मरक्षकके ।
मूलजी कृष्णघर जन्मे, श्रेष्ठ कुल हो तो ऐसा हो ॥ १ ॥

देखकर शिवकी प्रतिमा पर, निडर-निर्द्वन्द मूषकको ।
जानकर झूठ शिव गरिमा, किया प्रण सत्य पानेको ॥
बहनचाचाकी मृत्यु देख, विजय क्लेशोंसे पानेको ।
बन गये शुद्ध चैतन्य, वैरागी हो तो ऐसा हो ॥ २ ॥

घोर जंगल बीहड़में, शिखरकी उच्च श्रेणीमें ।
नदी नाले जलाशय पूर्ण जलकी वेगधारामें ॥
कन्दराओं गुफाओंमें, किया तप भीष्मयतिबरने ।
समाधि प्राप्त की जिसने सुयोगी हो तो ऐसा हो ॥ ३ ॥

पढे गुरु पास वेदाङ्गों, सहित तन मन तथा धनसे ।
विनयशील सुसौम्य शान्त, गुरुभक्ति विमलगुणसे ॥
सुयोग्य पात्र विद्याके, बज्रसमकाय व्रतिवर थे ।
रहे रत विद्याप्राप्तिमें, छात्र भी हो तो ऐसा हो ॥ ४ ॥

प्रचार वेदभावोंका, सुधार आर्य जनताका ।
खण्ड खण्ड दुर्ग पाखण्डका, विनाश मूर्ति पूजाका ॥
किया उद्धार गउओंका, सुधार देशदलितोंका ।
आर्यभाषा गौमाताका, रक्षक हो तो ऐसा हो ॥ ५ ॥

दयाके पूर्ण सागर थे, क्षमाके उच्च पर्वत थे ।
अधर्मी क्लेश दाताको, दण्डसे मुक्त करते थे ॥
सत्यके व्यक्त करनेमें, नहीं गति रुद्ध होते थे ।
धन दे प्राणघातकको, दयामय हो तो ऐसा हो ॥ ६ ॥

घोर विष कारणसे ऋषिवर, देहकी रुग्णावस्थामें ।
दीपमालाकी ज्वालासे, करो तम नाश घर घरमें ॥
कामना पूर्ण हो तेरी, मुदित मुख हो कहा ऋषिने ।
हो गये ब्रह्ममें मग्न मृत्युञ्जय हो तो ऐसा तो ॥ ७ ॥

उपनिषद्‌का प्रथम सन्देश–दृढ संकल्प

(लेखक— श्री महात्मा आनन्द स्वामीजी महाराज)

जिस चतुर्युगीमें आज हम रहते हैं, उसको आरम्भ हुए अट्ठतीस लाख छियानवे हजार वर्ष व्यतीत हो चुके। वैसे सृष्टिको बने लगभग एक अरब सत्तानवे करोड वर्ष हो चुके। मैं उसकी बात नहीं कहता, वर्तमान चतुर्युगीकी बात कहता हूँ। यह इस सृष्टिकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगीमें आजसे २०-२५ लाख वर्ष पहले 'ब्राह्मण' और 'आरण्यक' ग्रन्थ लिखे गये। जब विद्वान् ऋषियोंने देखा कि संसारके लोग बहुत दुःखी हुए जाते हैं तो इन ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थोंसे और इनके अतिरिक्त वेद भगवान्‌से आध्यात्मिक अंशको उद्धृत करके 'उपनिषद्' रचे गये, जिससे लोगोंको दुःखसे बचनेका सीधा मार्ग बताया जा सके। प्रायः सब आर्ष उपनिषद् इन्हीं ब्राह्मणों, आरण्यकों और वेद भगवान् के अंश हैं।

भारत तथा विदेशीय एक, दो या दस नहीं अपितु हजारों विद्वानोंने उपनिषदोंमें उल्लिखित सूक्ष्म अध्यात्म ज्ञानकी प्रशंसामें अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन विचारोंको छोडता हूँ। आप भी उन विचारोंको नहीं अपितु उस ज्ञानको जानना चाहेंगे, जो उपनिषदोंमें विद्यमान है।

सबसे पहला निचोड–पहला खिंचा हुआ इत्र– जो उपनिषद्‌के स्वाध्यायसे प्राप्त होता है, वह है दृढ संकल्प। छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा अन्य उपनिषदोंमें इस दृढ संकल्पका पुनः पुनः वर्णन आता है। शाण्डिल्य ऋषिकी विद्या है कि—

क्रतुमयः पुरुषः।

यह मानव संकल्पोंका बना हुआ है। जैसे विचार, जैसी भावना एवं जैसे संकल्प होंगे, वैसे बन जाओगे। आगे चलकर उन्होंने फिर कहा है—

क्रतुं लोकं पुरुषोऽभिजायते।

अर्थात् मनुष्य स्वनिर्मित सृष्टिमें उत्पन्न होता है। आप सोचेंगे– यह कैसी बात कहता है? किन्तु सुनो, यह बिल्कुल सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वनिर्मित संसारमें जन्मता है। यह ठीक है कि इस सृष्टिका रचयिता परमात्मा है। किन्तु यह सृष्टि कैसी हो, इसका निर्णय स्वयं जीवात्मा करता है। कैसा उसका देश हो, कैसे उसके मित्र तथा सम्बन्धी हों, कैसे माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री हों— इसका निर्णय जीवात्मा स्वयं करता है। जैसे विचार उसके मनमें हों, जैसी भावना उसके अन्तःकरणमें हो, वैसी ही उसकी सृष्टि बन जाती है। यदि उसके विचार खोटे हैं, भावनायें खोटी हैं, तो याद रखिये कि इस विचारधाराके कारण वह खोटा ही बनेगा– अच्छा नहीं बनेगा। यदि पवित्र विचारधारा उसके मनमें हो रही है, तो वह अच्छा बनेगा– पवित्र बनेगा, खोटा कभी नहीं बन सकता। अतः 'दृढ संकल्पवाला बन,' यह पहली बात है।

इसके विषयमें छान्दोग्यके ऋषिने महिदासकी कथा लिखी। महिदास ऐतरेय– यह उसका पूरा नाम था। वह यज्ञ करा रहा था। एक सौ सोलह वर्षतक वह यज्ञ होनेवाला था। उसका स्वास्थ्य अच्छा न था। वैद्योंने उसे देखा और कहा-- 'महिदास! इतनी देर तू जी नहीं सकता, इस यज्ञको छोड दे। जो बीमारी तुझे लग गई है, उससे तू बचेगा नहीं'। महिदास था आत्मज्ञानी— यह जाननेवाला कि 'क्रतुमयः पुरुषः' मानव अपने संकल्पसे बनता है। अतः पूर्ण विश्वासके साथ बोला—

स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति।

'हे मेरे रोग! मेरे शत्रु! मुझे क्यों दुःखी करता है। तेरे किसी भी आक्रमणसे मैं मरूंगा नहीं— मुझे अभी मरना नहीं है। छान्दोग्यका ऋषि कहता है कि वह दृढसंकल्पी महिदास पूरे एक सौ सोलह वर्षतक जीता रहा—

स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्।

'वह पूरे एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा'। यही नहीं, छान्दोग्यका ऋषि कहता है—

स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ।

' कोई भी व्यक्ति जो दृढ संकल्पके साथ ऐसा चाहेगा, वह एक सौ सोलह वर्षतक जियेगा ' ।

महिदासने एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहनेका संकल्प किया और वह पूरे एक सौ सोलह वर्षतक जीता रहा। कैसे जीता रहा— इसका उपाय भी उपनिषद्में बताया गया है। उपनिषद्ने पुरुषको ' यज्ञ ' कहा है—

पुरुषो वाव यज्ञः ।

' यह पुरुष सचमुच यज्ञ है। ' इस यज्ञके तीन सवन हैं— प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सान्ध्य (सायं) सवन। अर्थात् मनुष्यका जीवन यज्ञरूप होकर, दूसरोंके उपकारके लिये विद्यमान रहकर— तीन अवस्थाओंसे पार होता है— प्रातः, मध्याह्न, सायं। यह यज्ञ निरन्तर होता रहता है। प्रातः सवनका छन्द है ' गायत्री ' जिसमें २४ मात्रायें हैं, माध्यन्दिन सवनका छन्द है ' त्रिष्टुप् ' जिसमें चवालीस मात्रा हैं और सान्ध्य सवनका छन्द है ' जगती ' जिसमें ४८ मात्रा हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य यज्ञरूप होकर २४ वर्षतक ' ब्रह्मचर्य आश्रम ' में रहे। तदनन्तर यज्ञरूप होकर ४४ वर्षतक ' गृहस्थ ' और ' वानप्रस्थ आश्रम ' में रहे और फिर जब जीवनकी सन्ध्या आ जाये तो ४८ वर्षतक ' संन्यास आश्रम ' में रहे। इन सबको जोडकर देखिये एक सौ सोलह वर्ष होते हैं या नहीं।

उसने प्रातः सवनमें कहा— ' २४ वर्ष तक मैं मरूँगा नहीं। मैं यज्ञरूप हूँ। यज्ञका यह भाग पूर्ण करके मुझे माध्यन्दिन सवनमें पहुँचना है। ' और माध्यन्दिन सवनमें पहुँच कर उसने फिर कहा— ' मैं यज्ञरूप हूँ, मुझे मरना नहीं है। माध्यन्दिन सवनको पूर्ण करके सान्ध्य सवनमें पहुँचकर उसने दृढ संकल्पसे कहा— ' मुझे मरना नहीं है। ४८ वर्ष तक मुझे इस यज्ञके अन्तिम अंशको पूर्ण करना है। ' यह है दृढ संकल्पको उत्पन्न करनेकी विधि। मनुष्य अपनेको यज्ञरूप बना ले तो उसका दृढ संकल्प सफल होता है— अवश्यमेव सफल होता है।

इसको आत्म-प्रेरणा (Auto-suggestion) कहते हैं। इस प्रकार अपनेको प्रेरणा देता हुआ महिदास एक सौ सोलह वर्षतक जीता रहा। अपने आपको यज्ञरूप बनानेसे ही दृढ संकल्प उत्पन्न होता है।

ये जो तीन सवन— यज्ञके तीन भाग— मैंने बताये, ये क्या हैं? प्रातः सवनको कहते हैं ' दीक्षा ' — ऐसी अवस्था जिसमें तप करना है। भोजनका ठीक प्रबन्ध नहीं, पानीका नहीं, रहनेका नहीं, फिर भी तपकी भावनासे ज्ञान और शक्तिको प्राप्त करते जाना, ब्रह्मचर्यका धारण करके अपने लक्ष्यकी ओर बढते जाना— यह ' दीक्षा ' है। कष्ट, क्लेश तथा दुःखोंको सहन करना— यह ' दीक्षा ' है। माध्यन्दिन सवनको कहते हैं ' उपसद ' । अर्थात् आराम, सुख, मौज, आनन्द । हँसते-गाते हुए, अपना और दूसरोंका भला करते हुए, कमाते और खर्च करते हुए आगे बढते जाना। सान्ध्य सवनको कहते हैं ' दक्षिणा ' । केवल दूसरोंके कल्याणके लिये जीवित रहना— अपना समय, अपना धन, अपनी शक्ति, अपना सर्वस्व लोक-कल्याणमें लगा देना— सारे संसारको अपना परिवार समझकर उसमें उपकारके लिये प्रयत्न करते रहना।

ये तीन बातें— दीक्षा, उपसद और दक्षिणा— जिस जीवनमें हैं, वह यज्ञमय जीवन है और जो व्यक्ति यज्ञरूप है उसका दृढ संकल्प कभी विफल नहीं होता। ये तीनों अवस्थायें— दीक्षा, उपसद तथा दक्षिणा केवल जीवनके प्रातः, मध्याह्न एवं सायं नहीं। जीवनमें पुनः पुनः ये अवस्थायें आती हैं। दीक्षाका अर्थ है— कष्ट और क्लेशको सहन करना। यह भावना हर समय विद्यमान रहनी चाहिये। दुःख हो, सुख हो, कष्ट हो, रोग हो, शोक हो, ऐश्वर्य हो, दारिद्र्य हो, सफलता हो, विफलता हो— हर अवस्थामें मस्त रहना। तीन प्रकारकी मस्तियाँ होती हैं संसारमें। कुछ चाल-मस्त होते हैं। उनकी चालमें मस्तानापन होता है, दूसरी किसी बातमें नहीं। कुछ लोग माल-मस्त होते हैं। माल है तो मस्त हैं, नहीं तो रो रहे हैं। कुछ लोग हाल-मस्त होते हैं। कैसी भी हालत हो, वे हर हालतमें प्रसन्न रहते हैं— हर हालमें मस्त। किसी भी समय उनके मनमें निराशा उत्पन्न नहीं होती। इस विश्वासके साथ आगे बढते हैं कि कभी न कभी तो दुःखोंका अन्त होगा ही। उनसे पूछो— प्रसन्न क्यों हो? तो कहते हैं— ईश्वरने हमें प्रसन्न रहनेके लिये ही बनाया है। और जो रोते रहते हैं, उनसे पूछो— रोते क्यों हो? तो कहते हैं— शकल ही ऐसी है। अच्छा भाई! शकल ही ऐसी है, तो रोओ! किन्तु देखो, यह जीवनको सफल बनानेका मार्ग नहीं। यह अपने आपको यज्ञरूप बनाना है, तो आशावादी बनो— निराशावादी न

बनो। ऊपरकी ओर देखो, नीचेकी ओर न देखो। वेद कहता है—

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।

मैंने तुझे ऊपर उठनेके लिये बनाया है, नीचे गिरनेके लिये नहीं। इसलिये रो नहीं— नीचे न गिर— ऊपर उठ! हँसता हुआ कह—

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।

यां यूँ भी वाहवा है और वूँ भी वाहवा है॥

इसलिये अपने विचारको छोटा न बना, खोटा न बना। आशावादी जिस क्षेत्रमें जायगा, वहीं उसको सफलता मिलेगी। कोई रोग, कोई कष्ट, कोई विवशता, असहायता, अनाथता, निर्धनता उसे सफलतासे रोक न सकेगी।

रोगके प्रसंगमें छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है कि यदि कभी रुग्ण हो जाओ, तो अपनेको रोगी न कहो। यह कहो कि— 'मैं तप तप रहा हूँ। कुछ बुरे कर्म थे, अपने तपसे उनका विनाश कर रहा हूँ। ये बुरे कर्म नष्ट हो जायेंगे, तो फिर सुख ही सुख है।' यह है भावना जो सच्चे ईश्वर-विश्वासीके हृदयमें उत्पन्न होती है। वह अपने मनको गिरने नहीं देता, दुर्बल नहीं होने देता।

अब देखिये, संसारमें जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनकी सफलताका रहस्य क्या था? यही आत्मविश्वास और दृढ संकल्प। आत्मविश्वासी और दृढ संकल्पी मनुष्य बिजलीसे नहीं डरता, शत्रुसे भयभीत नहीं होता, तूफानसे त्रस्त नहीं होता, गोली—तलवार—एटम बम—हाइड्रोजन बमसे भयग्रस्त नहीं होता। निरन्तर आगे बढ़ता है और इस विश्वासके साथ आगे बढ़ता है कि उसे अवश्य सफलता मिलेगी।

यह है उपनिषद्का प्रथम सन्देश! दृढ संकल्प करके आगे बढ़ो। मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा गया है—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः संकल्पसंभवः।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

इच्छाका मूल संकल्प है। परोपकारके कार्य भी संकल्पके बिना नहीं हो सकते। व्रत—यम तथा धर्मका पालन भी दृढ संकल्पसे ही संभव है।

प्रह्लाद, ध्रुव, हरिश्चन्द्र, दयानन्द आदि महापुरुषोंने दृढ संकल्पके बलपर ही अपने लक्ष्योंकी सिद्धि की। यही है दृढ संकल्पकी महिमा। इस प्रकार उपनिषद्का स्वाध्याय मनुष्यमें संकल्प शक्तिको उद्भावित करता है और कालान्तरमें यह संकल्पशक्ति ही मनुष्यको सफलता प्रदान करती है। यदि उपनिषद्का स्वाध्याय व्यापक हो तो समाज, राष्ट्र तथा संसार दुःखगर्तसे निकल कर सुख, शान्ति एवं समृद्धिके राजमार्गपर अग्रसर हो जायेगा।

प्रे.— श्री सुदर्शनजी, भरुच

भारत-प्रशंसा

(कवि— श्री अबुलहकम)

कफाइवनेक जिकरामिन उलमिन तब असेर, कुकूधून अमा ततुल हवा बतजक्कर॥१॥
बतज केरोहा ऊदल पलल वदये लिलबरा, वलुक्यानें जातल्लाहे यौ मे तब असर॥२॥
व अहलुलह अजहु अर्मीमन महादेऊ, बमना जिल इलमुद्दीन मिनहुम वसयत्तर॥३॥
वसहबी केयाम फी मकायिल हिन्दु योमन, यकू लून लातहजन फइन्नक नवज्जर॥४॥
मअस्सरे अंखलायकन हरावन कल्लहुम, नजुमुन अजा मत सुम्मगावुल हिन्दु॥५॥

(१) जिस मनुष्यने अपनी सारी आयु पाप और अधर्मके कार्य करनेमें नष्ट कर दी और अपना सारा समय विषयोपभोगमें बिता दिया, (२) ऐसे मनुष्यको यदि अन्त समयमें पश्चात्ताप हुआ और सन्मार्ग पर आनेकी उसकी इच्छा हुई, तो क्या उसका उद्धार हो सकता है? हां निश्चयसे, (३) यदि केवल एक ही बार वह अत्यंत शुद्ध व पवित्र अन्तःकरणसे शङ्करकी आराधना कर ले, तो स्वर्गमें उसे उच्चस्थान मिल सकता है। (४) इसलिए हे परमेश्वर! मेरा सब जीवन लेकर सिर्फ एक दिन ऐसा दे, कि जो दिन मैं भारतमें बिता सकूं क्योंकि वहां जाने पर मनुष्यको सद्गति प्राप्त होती है। (५) वहांकी यात्रा करने पर पुण्यका संचय होता है और वहां आदर्श गुरु और योग्य मार्गदर्शक मिलते हैं।

(मार्च, सन् १९२२ के 'नकहेकाक' से उद्धृत)

स मा लो च ना

जीवन-ज्योति

(आर्योदय साप्ताहिकका दीपावली विशेषांक)

प्राप्ति स्थान- ' आर्योदय हिन्दी साप्ताहिक, १५ हनुमान-रोड नईदिल्ली-१, पृष्ठ २८३ : मूल्य ३)

आर्योदय साप्ताहिक वैदिक धर्मका एक मुखपत्र है और यह सिद्धान्तोंको सफलता पूर्वक प्रस्तुत करता है। इस पत्र के सभी विशेषांक पठनीय एवं संग्रहणीय होते हैं।

प्रस्तुत विशेषांक भी महत्वपूर्ण है। इस विशेषांकका नाम " जीवन-ज्योति " रखा है। इसमें सामवेदके आग्नेय पर्वकी श्री चमूपति कृत व्याख्या (हिन्दी) प्रस्तुत की है।

व्याख्याकारका सारा जीवन ही वैदिक साहित्यके अन्वेषणमें बीता है। अतः इन्होंने जो भी रचनायें की, उनमें इनकी प्रतिभा पूर्णरूपसे चमकी है।

प्रस्तुत पुस्तकमें व्याख्याकारकी मंत्रोंकी व्याख्या बहुत सुन्दर बन पडी है। पढते हुए पाठकका मन उसमें पूरी तरह रम जाता है। इसके साथ ही अंकके सुन्दर मुद्रण, कागज, साजसज्जा इन सभीने सहयोग देकर ' सोनेमें सुगंध ' का काम किया है। इस अंकको आत्मा और बाह्य कलेवर दोनों ही प्रशंसनीय हैं।

राष्ट्रधर्म (मासिक)

सम्पादक श्री रामशंकर अग्निहोत्री, कार्यालय 'राष्ट्रधर्म' मासिक, डॉ. रघुवीरनगर, राजेन्द्रनगर (पूर्व) पो. बॉ. २०७, लखनऊ- ४; पृष्ठ- १२१; मूल्य वार्षिक १२) अर्धवार्षिक ६) एक प्रति १)

प्रस्तुत मासिकका जन्म अभी हालमें ही हुआ है, इसका प्रथमवर्षका प्रथम अंक विजया दशमीके शुभावसर पर भारतीयोंको विजयका सन्देश देता हुआ निकला है। ' होनहार बिरवानके होत चीकने पात ' की उक्ति इस पत्रिका विषयमें पूर्णतया चरितार्थ होती है।

पत्रिकाके सम्पादक श्री अग्निहोत्री सम्पादकीय क्षेत्रमें पूर्ण अनुभवी साथ ही विद्वान् भी हैं। उनके प्रयासका यह प्रथम पुष्प ही इस बातका सफल परिचायक है, कि उनकी सम्पादकीय प्रतिभा विशेष प्रशंसनीय है। साथ ही हमें यह भी आशा है कि वे अपने सम्पादकीय स्तरको उत्तरोत्तर उन्नत करते जाएँगे।

हम इस नये प्रयासका हृदयसे स्वागत करते हैं।

ब्रह्मतत्व

लेखक श्री वैद्यनाथ अग्निहोत्री, प्रकाशक व प्राप्तिस्थान- श्री वैद्यनाथ अग्निहोत्री, 'शिव निवास चौक लखनऊ, पृष्ठ सं. २४८, मू. श्रद्धा एवं मनन।

इस कष्टमय कालमें आज भी ऐसे भारतीय विद्याके उपासक हैं, जो निस्पृह एवं निर्लोभ वृत्तिसे इस विद्याके प्रचारमें व्यस्त हैं। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं प्रस्तुत पुस्तकके कर्ता श्री अग्निहोत्री।

इस प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकने ब्रह्मतत्वका बडा गहन विचार किया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ऐसे आध्यात्मिक विचारक आज भारतमें भी इनेगिने ही हैं, अतः यह विद्या भी उन्हीं विद्वानोंतक सीमित है। उस पर भी उनके विचार इतने उलझे होते हैं कि साधारण मस्तिष्कका उसमें प्रवेश तक कठिन हो जाता है। पर इस पुस्तककी यह एक महान् विशेषता है कि यह सर्व साधारण गम्य है। दूसरी बात यह भी द्रष्टव्य है कि यह पुस्तक प्रचारकी दृष्टिसे ही लिखी एवं प्रकाशित की गई है इसलिए इसका मूल्य कुछ भी नहीं है। अतः अधिकारी सज्जन रजि. डाकव्ययके लिए १.५० रु. भेज कर यह पुस्तक मंगवा सकते हैं। पुस्तक साज सज्जाकी दृष्टि-से भी प्रशंसनीय है। हम लेखक एवं प्रकाशकको इस साहस के लिए हार्दिक बधाई देते हैं।

श्री वेंकटेश्वर समाचार

(श्री नेहरु-स्मृति अंक)

सम्पादक श्री विद्यालंकार पं देवेन्द्र शर्मा शास्त्री, कार्यालय श्री वेंकटेश्वर कार्यालय, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ४

६९ वर्ष पुरातन इस साप्ताहिक पत्रके सभी अंक प्रायः सर्वांग सुन्दर होते हैं। प्रस्तुत अंक भारत भाग्य विधाता श्री नेहरुकी जयन्तीके शुभावसर पर ' श्री नेहरु स्मृति अंक ' के रूपमें विशेषांक है। श्री पं. विद्यालंकारजीका सम्पादन सुघड है। इस विशेषांकमें सर्व श्री अवनीन्द्रकुमार विद्या-लंकार, मुल्कराज आनन्द, मन्मथनाथ गुप्त आदि लेखक मूर्धन्योंने श्री नेहरुके अनेक पहलुओं पर सुन्दर प्रकाश डाला है। पत्रिकाका यह अंक विशेषतः संग्राह्य है। ● ● ●

वैदिक संस्कृति ही एकमात्र मानव संस्कृति है

(लेखक— श्री ओमप्रकाश पुरुषार्थी)

संस्कृति और सभ्यताके नाम पर यों तो समस्त संसारमें ही बड़े ही घृणित, संकीर्ण एवं अमानवीय आन्दोलनों अथवा वादोंकी रचनायें हो रही हैं, परन्तु भारतमें इसके कारण जो बीभत्स कुकृत्योंका सृजन हुआ है, और हो रहा है वह एक ऐसी जटिल समस्या है कि यदि इसे शीघ्र न सुलझाया गया तो हमारी समस्त राष्ट्रीय महत्वाकांक्षायें धूलमें मिल जायगी।

अपनी संस्कृति और सभ्यताकी सुरक्षाके निमित्त ही भारतके मुसलमानोंने भौगोलिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे अखण्ड भारतको विभाजित कर पाकिस्तानका निर्माण किया। इसके पश्चात् अब पंजाबके सिक्ख, नागा प्रान्तके ईसाई और दक्षिण भारतके लोग अपनी संस्कृति और सभ्यताकी सुरक्षाके नाम पर ही नये पाकिस्तानोंके लिये आन्दोलन कर रहे हैं। भाषाके आधारपर प्रान्तोंके विभाजनकी समस्याके पीछे भी यही मनोवृत्ति कार्य कर रही थी। परन्तु खेद इस बातका है कि इस राष्ट्र–विघातक विचारधाराका सही समाधान न करके इसे मान्यता दी जा रही है और यह स्थिति ठीक इस प्रकारकी है कि कोई सूखते हुये पेड़की रक्षार्थ उसकी जड़पर पानी न डाल कर उसकी पत्तियों पर पानी छिड़के।

वास्तवमें इसका सही समाधान यह है कि हम भारतीय जनताको ही नहीं अपितु समस्त मानव समुदायको संस्कृति और सभ्यताके वास्तविक स्वरूपको समझा कर उसे विश्व बन्धुत्वके प्रेम–पाशमें बाँधें। संस्कृति और सभ्यताके वास्तविक स्वरूपको समझने और अपनानेके पश्चात् मानव मानवके प्रति स्वतः आकर्षित हो जायगा और ये वर्तमान समस्त साम्प्रदायिकता और संकीर्णताकी दीवारें स्वतः शून्यमें विलीन हो जायेंगी और संसार एक ऐसे परिवारका रूप धारण कर लेगा कि जिससे अन्याय, अत्याचार, द्वेष, घृणा, हिंसा आदि के स्थान पर परोपकार, प्रेम, सद्भावना, उदारता, सहयोग एवं आत्मीयताका साम्राज्य होगा।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मानव संस्कृति और सभ्यताका स्वरूप क्या है और उसे कैसे अपनाया जा सकता है? इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि संस्कृति शब्दका शब्दार्थ ही इसके सही स्वरूपको समझनेके लिये यथेष्ट है। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषाका है जो सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृञ्' धातुमें 'क्तिन' प्रत्यय लगानेसे बनता है, जिसका शब्दार्थ है 'अच्छी स्थिति' या 'सुधरी हुई स्थिति,' संस्कृतिसे मानव समाजकी उस स्थितिका बोध होता है कि जिससे उसे ऊँचा, सभ्य आदि विशेषणोंसे विभूषित किया जा सकता है।

मानवकी आभ्यन्तरिक एवं बाह्य शक्तियोंका पूर्ण विकास कर उन्हें मानव और मानव समाजके निमित्त हितकारी बनानेकी कलाका नाम ही संस्कृति है। यह कला पूर्णतः विज्ञान पर आधारित होती है और विज्ञान ही इसकी पहिचानकी सही कसौटी है।

जिस प्रकार किसी विषयकी सत्यता एक ही होती है, दो नहीं; उसी प्रकार मानव और मानव समाजकी उच्चतम अवस्थाका स्वरूप भी एक ही हो सकता है दो नहीं। इस अवस्थाकी प्राप्तिके साधन भी निश्चित ही हो सकते हैं अनिश्चित नहीं। अतः मानव समाजको उच्चतम अवस्था पर पहुँचानेके निमित्त एक ही संस्कृति हो सकती है दो नहीं। उदाहरणार्थ जिस प्रकार एक गेहूँके दानेका, चाहे वह रूस, अमेरिका, जर्मनी किसी भी देशका क्यों न हो, पूर्ण विकास करनेके निमित्त एक ही प्रकारकी मिट्टी, खाद, पानी, जल, वायु आदिकी आवश्यक होती है और इन्हींको गेहूँकी संस्कृति कहा जा सकता है, उसी प्रकार मानवकी चाहे वह किसी देश

न जातिका हो, आन्तरिक और बाह्य शक्तियोंका पूर्ण विकास करनेके लिये एक ही संस्कृति हो सकती है दो नहीं।

अतः इस ध्रुव सत्य एवं अकाट्य तथ्यके रहते संसारमें कई संस्कृतियोंको मानना सर्वथा भ्रामक है। जिस प्रकार नकली स्वर्णको अज्ञानी भले ही स्वर्ण मान लें, परन्तु ज्ञानी मनुष्य कदापि उसे स्वर्ण स्वीकार नहीं करेगा, उसी प्रकार संस्कृतिके नाम पर मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, जैन पश्चिमी व वैदिक संस्कृतियोंमेंसे एक ही संस्कृति सच्ची कही जा सकती है और अन्योंको नकली या अपूर्ण समझना होगा।

ऊपर लिखित संस्कृतियोंमेंसे किसको सच्ची मानव संस्कृति समझें और किसको नहीं यह एक जटिल एवं गम्भीर विषय है। परन्तु इसके सही चुनावके लिये हमें संस्कृतिकी परिभाषा सन्मुख रखनी होगी और विज्ञानकी कसौटी अपने हाथमें रखनी होगी। जैसे हमने पहिले बतलाया है कि संस्कृतिका लक्ष्य है मानवकी आन्तरिक और बाह्य शक्तियोंका पूर्ण विकास कर उन्हें समाज हितकारी बनाना और इनके द्वारा समाजको उन्नतम अवस्थामें पहुँचाना। समाजकी उन्नतम अवस्थाकी पहिचान उसके विशाल भवनों, मोटरों, कलकारखानों एवं शान-शौकतसे नहीं होती। यह समस्त वस्तुयें सभ्यताके अङ्ग हैं। परोपकार, सत्य प्रियता, त्याग, सेवा, अहिंसा, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य, विश्वबन्धुत्व आदि गुण संस्कृतिके अङ्ग है।

उदाहरणार्थ यदि एक मनुष्यके पास अच्छा भवन, नौकर, धन एवं अन्य भोग सामग्रियां हैं और वह बोल-चाल आदिमें भी अच्छा है; परन्तु वह झूठा है, अन्यायी है और शोषक है तो वह सभ्य कहलाया जा सकता है; परन्तु सुसंस्कृत नहीं कहा जा सकता है। सारांशमें संस्कृतिका सम्बन्ध आत्मासे है और सभ्यताका सम्बन्ध शरीर एवं भौतिक जगत्से है। सभ्यता, देश, काल, परिस्थितिके अनुसार बदलती रहती है, परन्तु संस्कृति सदैव एक रूपमें रहती है।

संस्कृति और सभ्यतामें घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरेकी पूरक हैं। जो सभ्यता मानव संस्कृतिके खूँटेसे बँधी होती है वही सही अर्थोंमें मानव सभ्यता है और ग्राह्य है। जो सभ्यता संस्कृतिकी उपेक्षा कर आगे बढती है वह राक्षसी सभ्यता होती है क्योंकि जिस सभ्यतासे अन्याय, अत्याचार और व्यभिचारको बढावा मिले वह कदापि मानव सभ्यता नहीं कही जा सकती है।

इस प्रकार आत्म विकास मानव संस्कृतिका मुख्य लक्ष्य बन जाता है। जो संस्कृति आत्माके अस्तित्वको ही नहीं मानती वह भला मानव संस्कृति कैसे कही जा सकती है। अधिकांश वर्तमान संस्कृतियोंका सम्बन्ध केवल शरीरसे है और वे केवल सभ्यताके ही दूसरा रूप हैं। परोपकार, दया, क्षमा आदिका नाम भी वह कभी कभी लेती हैं; परन्तु ऐसा वह विवश होकर ही करती हैं अन्यथा उनका एक मात्र लक्ष्य 'खाओ पीओ मौज उडाओ, और जिसकी लाठी उसकी भैंस है।' एक दूसरेके स्वार्थ आपसमें न टकरायें इसीसे बचनेके लिये कभी कभी वह दया, क्षमा, परोपकारकी बात कहती हैं।

वैदिक संस्कृतिको छोड संसारकी कोई भी संस्कृति इस बातका उत्तर वैज्ञानिक आधार पर नहीं दे सकती है कि हम अन्याय, अत्याचार, चोरी आदि क्यों न करें। यदि कोई थोडा बहुत उत्तर देती भी है तो वह यहां आकर समाप्त हो जाती है कि वह इन्हें अपने सम्प्रदायके मनुष्यके लिये तो बुरा मानती है; परन्तु अन्य सम्प्रदायवालोंके साथ इनके होनेको न्याय मानती है। जो संस्कृति प्राणी मात्रके कल्याणकी भावना नहीं रखती वह कदापि मानव संस्कृति नहीं कही जा सकती है। प्राणी मात्रके कल्याणकी भावना तबतक उसमें नहीं आसकती है, कि जबतक वह ईश्वर, जीव और प्रकृतिके सही स्वरूप और इनके सम्बन्धको भली प्रकार न समझ लें। इन मौलिक बातोंके सम्बन्धमें जो संस्कृतियां अवैज्ञानिक कल्पनायें माने बैठी हैं वे भला किस प्रकार मानव कल्याणकारी भाव प्रदान कर सकती हैं। जब जडमें ही घुन लगी हुई है तो फिर पेड न स्वयं ही पनप सकता है और न इससे छाया प्रदान कर सकता है।

वैदिक संस्कृति ही एक ऐसी संस्कृति है कि जो संस्कृति-प्रत्येक कसौटी पर ठीक उतरती है। यह देश, काल, परिस्थिति आदिके बन्धनोंसे परे है और मनुष्य ही नहीं अपितु प्राणी मात्रके कल्याणकी भावना रखती है। कि जो मनुष्य अन्याय-अत्याचारसे दूर रहा इनके मनमें विचार लाना भी इसकी दृष्टिमें पाप है, मानसिक कार्यका भी फल मिलता है ऐसा यह मानती है।

परोपकार, सेवा, प्रेम, दया, क्षमा आदि करनेसे मनुष्य-

की आत्मा पर क्या प्रभाव पडता है और किस प्रकार यह मनुष्य और मनुष्य समाजके लिये अहितकर हैं; इसका इसने भली प्रकार वैज्ञानिक विवेचन किया है। जहां अन्य संस्कृतियोंने भोगवादका पाठ पढाकर मनुष्यको दुःख और अन्यायकी गोदमें धकेल दिया है; वहां इसके सर्वथा विपरीत त्याग, आत्मसंयम तथा संतोषका पाठ वैदिक संस्कृति पढाती है।

आत्म विकासमें कुसंस्कार बाधक होते हैं। कुसंस्कार बुरे कर्मोंसे उत्पन्न होते हैं और बुरे कर्म बुरे विचारोंसे, बुरे विचार बुरे मनसे, बुरा मन बुरे अन्न और बुरी सौहबतसे उत्पन्न होता है। यह है वैज्ञानिक शैली कि जिसके द्वारा जन्मसे लेकर पुनर्जन्म और मोक्षतककी गुत्थियोंको सुलझाते हुये मनुष्यको सत्पथ पर लानेका प्रयत्न करती है वैदिक संस्कृति।

अन्य संस्कृतियोंका क्षेत्र जहां मनुष्यके जन्म लेने पर ही प्रारम्भ होता है और मरने पर समाप्त हो जाता है; वहां वैदिक संस्कृतिका क्षेत्र माता-पिताके रज वीर्यकी पवित्रतासे ही प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् इसकी दृष्टिमें सुसंस्कृत मनुष्य बनानेके लिये माता-पिताको अपने अन्दर अच्छे संस्कारोंवाला रजवीर्य उत्पन्न करना होता है; तत्पश्चात् मांके पेटमें बच्चेको संस्कारित किया जाता है। फिर मांकी गोदसे लेकर मृत्युपर्यन्त मानवकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न संस्कार डाले जाते हैं। इस प्रकार १६ संस्कारोंके द्वारा वैदिक संस्कृति मानवको मानव बना पाती है। वर्णाश्रम व्यवस्था इस संस्कृतिका मुख्य स्वरूप है।

वैदिक संस्कृतिकी दृष्टिमें मनुष्य ही मानव समाजका मूलाधार है और इसको सुसंस्कृत बना देनेसे समाज स्वत; ही सुखी हो जाता है। इसीलिये मनुष्य निर्माण पर इसने अधिक बल दिया है और मनुष्यका मूल्य इसने उसके धनमें नहीं अपितु उसके आत्म बलमें पाया है।

वैदिक संस्कृति ही मानव संस्कृति है इसका यदि कोई प्रत्यक्ष प्रमाण चाहे तो मैं उसे चीनी यात्रियोंकी साक्षी देते हुये कहूँगा कि इसी संस्कृतिका चमत्कार था कि एक दिन भारतके घरोंमें ताले लगानेकी आवश्यकता नहीं होती थी। यदि आज भी इसका प्रमाण देखना है तो भारतके उन पर्वतीय भागोंमें कि जहां अन्य सभ्यताओंका पदार्पण नहीं हुआ है और वैदिक संस्कृतिके अवशेष आज भी शेष हैं वह आपको ऐसी अवस्था मिल सकती है।

भारतका इतिहास साक्षी है कि आर्यजातिके लोगोंने कभी किसी देशपर अन्याय, अत्याचार तथा शोषणकी दृष्टिसे आक्रमण नहीं किया था और न वहां अपना साम्राज्य ही स्थापित किया। उदाहरणार्थ महाराज पुरुषोत्तमरामने लंका विजय की, तो न तो वहांका रत्ती भर धन ही लिया और वहांका राज्य ही छीना। उल्टे रावणके भाई बिभीषणको ही वहांका राजा बना दिया। आज भी एटम बम्बकी दुनियामें भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है कि जो हृदयसे शांति चाहता है और जिसके प्रधानमन्त्री इसके लिये सतत चेष्टा कर रहे हैं।

सारांशतः संसारमें प्राणीमात्रकी कल्याणकारी संस्कृति यदि कोई है तो वह केवल वैदिक अथवा भारतीय संस्कृति ही। यदि संसारके मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं तो इन्हें इसका प्रचार व प्रसार करना चाहिये। इस संस्कृतिका उद्गम स्थान वेद और वैदिक साहित्य है। अतः वैदिक साहित्यके पठन-पाठनसे ही इसका प्राप्त होना सम्भव है। यदि हमारी सरकार भारतमें सच्चा मानव राष्ट्र चाहती है तो उसे वैदिक संस्कृतिको अपनाना ही होगा और अन्य नकली संस्कृतियोंसे देशको मुक्त करना होगा। राष्ट्रके प्रत्येक आर्य वीरका कर्तव्य है कि वह इस मानव संस्कृतिके आधार पर ही यहां आर्य राष्ट्रका निर्माण करें।

सुखमार्ग

❀ मासिक-पत्र ❀

सुख सम्पति पानेके लिये सामाजिक, धार्मिक वैद्यक एवं स्वास्थ्य आदि सभी सामयिक समस्याओंसे ओत-प्रोत ४० वर्षोंसे भारतियोंमें जागरणका शंखनाद करनेवाले सचित्र 'सुखमार्ग' को अवश्य पढें। यह बडे-बडे विद्वानोंके लेख, लेकर हजारोंकी संख्यामें छपता है। विशेषांक भी निकलते हैं प्रश्न-उत्तर और लेख समाचार मुफ्त छपाता है।

वार्षिक मूल्य केवल १) नमूना, मुफ्त
पता- सुखमार्ग, केमीकल प्रेस, अलीगढ

ऋग्वेदीय कठशाखा : एक काललुप्त शाखा

(लेखक— डॉ. श्रीरामशंकर भट्टाचार्य)

अष्टाध्यायीकी देवसुम्नयोर्यजुषि काठके (७।४।३८) सूत्रकी व्याख्यामें हरदत्तने पदमञ्जरीमें कहा है कि ऋग्वेदकी भी एक कठशाखा है : बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा। यद्यपि सामान्य रूपसे इस वाक्यमें कोई असंगति नहीं प्रतीत होती, तथापि यह एक विचार्य विषय अवश्य ही है; क्योंकि वेदान्वेषक पं. भगवद्दत्तजी कहते हैं— 'हमें इस बातकी सत्यतामें सन्देह है।'[1] इस निबन्धमें ऋग्वेदीय कठशाखाकी सम्भावना पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

पहले ही यह ज्ञातव्य है कि पाणिनिके (७।४।३८) सूत्रमें जो यजुषि काठके पदद्वय हैं, उनके तात्पर्यमें संशय हो सकता है। यजुः शब्दका मुख्य अर्थ एक मन्त्रविशेष है (ऋक्–साम शब्दकी तरह), यह पूर्वमीमांसाके मन्त्रलक्षणाधिकरण (२।१।३५–३७) से स्पष्टतः ज्ञात होता है। काठक शब्दका अर्थ ही 'कठानां आम्नायः'[2] है, ऐसी स्थितिमें सूत्रका यही अर्थ होना उचित प्रतीत होता है कि 'काठकमें विद्यमान जो यजुर्मन्त्र, उसमें जो देव–सुम्न शब्द हैं, उनमें ७।४।३८ सूत्रीय कार्य हो।' यजुर्मन्त्र गद्य[3] (पादहीन) ही होता है, अतः इस अर्थमें पादहीन यजुर्मन्त्र ही उदाहरण के रूपमें उल्लिखित होने चाहिए, पर काशिकादिमें जो उदाहरण दिये गये हैं,[4] वे पादबद्ध ऋक् मन्त्र हैं। सब आचार्योंका जहाँ ऐकमत्य हो, वहाँ प्रबल प्रमाणान्तरके बिना उस व्याख्याको सदोष कहना असमीचीन है।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट होता है कि सूत्रमें जो 'यजुषि' पद है, उसका अर्थ यजुर्मन्त्र न होकर 'यजुर्वेदीय' है। भट्टोजिदीक्षितने 'यजुर्वेदस्य' यही अर्थ दिखाया है; यह अर्थ नागेशभट्ट, सुबोधिनीकार जयकृष्ण आदिका भी अनुमत है। यजुर्वेदका अर्थ होगा 'मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद', केवल मन्त्र नहीं।[5] अतः 'यजुषि काठके' का अर्थ होगा—यजुर्वेदीय कठशाखामें। चूंकि कठशाखा यजुर्वेदमें ही है, अतः—'यजुर्वेदीय यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। इस दोषके दूरीकरणके लिए हरदत्तने कहा है कि ऋग्वेदकी भी एक कठशाखा है, जिसकी व्यावृत्तिके लिए पाणिनिको यह विशेषण देना पड़ा है। ऋग्वेदीय कठशाखा न उपलब्ध है और न उसका संकेत ही कहीं मिलता है, अतः हरदत्तकी इस व्याख्यामें संशयका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस संशयके समाधानके लिए निम्नोक्त तथ्य विचार्य हैं।

---

१ वैदिक वाङ्मयका इतिहास, द्वि. सं., भाग १, पृ. २८९।

२ कठ–कलाप आदि चरणशब्द हैं (काशिका, ४।२।४६)। इस शब्दसे 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (४।३।१२६) सूत्रसे वुञ् प्रत्यय विहित होता है, धर्म और आम्नाय– इन दो अर्थोंमें (चरणाद् धर्माम्नाययोरिष्यते)। वुञ् प्रत्ययसे 'काठकम्, कालापकम्' शब्द सिद्ध होते हैं।

३ ब्रह्माण्डपुराण १।३३।३७ में यजुर्मन्त्रके लक्षणमें 'न च पादाक्षरैर्मितः' कहा गया है। 'यजुषि पादानामभावात्' (काशिका, ६।१।११७)।

४ 'देवायन्तो हवामहे; देवायन्तो यजमानाय शर्म; सुम्नायन्तो हवामहे।'

५ यजुषिकी तरह 'ऋचि' पद अष्टाध्यायी ६।३।१३३ में है। नागेशने वहाँ भी 'ऋग्वेद इत्यर्थः' कहा है, जिसका तात्पर्य ऋग्वेदीय मन्त्रब्राह्मणसमुदाय है। काशिकाकार यहाँ 'ऋचि विषये' यह अर्थ करते हैं, जिससे केवल ऋक्मन्त्र विवक्षित होता है। उसी प्रकार ६।१।११७ में भी यजुषि पद है, जहाँ 'यजुषि विषये' अर्थ काशिकामें किया गया है। ७।४।३८ में 'यजुष्' के विषयमें काशिकाकारने कुछ भी नहीं कहा है, पर ऋक्मन्त्र (पादबद्ध) का उदाहरण दिया है।

पहले ही यह ज्ञातव्य है कि यह संशय नहीं किया जा सकता कि एक ही शाखा-नाम दो पृथक् वेदोंमें कैसे सम्भव हो सकता है। शाखाकारके नामानुसार शाखा–नाम होते हैं यह सार्वत्रिक नियम है, अतः यदि एक नामके एकाधिक शाखाकार ऋषि हुए हैं, तो समान नामवाली एकाधिक शाखाएं (एक या एकाधिक वेदोंमें) सर्वथा उत्पन्न हो ही सकती हैं। हम प्रत्यक्षतः देखते हैं कि सुमन्तु नामक एकाधिक आचार्योंने साम–अथर्व–शाखाओंका प्रवचन (पुराणोक्त शाखा-विवरणके अनुसार) किया है।[1] पराशर-शाखा ऋग्वेदीय भी है, शुक्लयजुर्वेदीय भी[2], उसी प्रकार गौतम–शाखा ऋग्वेदमें भी है और सामवेदमें भी।[3] इस प्रकारके अन्यान्य उदाहरण भी मिलते हैं। अतएव एकाधिक शाखाके समाननामत्व पर संशय नहीं किया जा सकता।

'कठ' नाम ऋग्वेदीय शाखा–विशेषका है, यह हेमचन्द्रकृत कोशसे भी अनुमित होता है। यहाँ कहा गया है— 'कठो मुनौ स्वरऋचां भेदे तत्पाठिवेदिनोः।'[4] इस श्लोकसे यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि 'ऋचां भेदे' (ऋग्वेदके भेद, अर्थात् शाखाएं) भी कठ शब्दका अर्थ है। शाखाके लिए 'भेद' शब्दका प्रयोग उचित ही है; क्योंकि शाखाके प्रसंगमें पुराणोंमें 'भिद्' धातुका प्रयोग बहुधा मिलता है– बिभेद प्रथमं पैल ऋग्वेदपादपम् (विष्णुपुराण, ३।४।१६ तथा कूर्म, १।४९।५२)। कोशमें यह भी कहा गया है कि इस शाखाके पाठक और वेदिता [तु. अष्टाध्यायी, 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९); इस सूत्रका नेदिष्ठ सम्बन्ध वैदिक साहित्यके साथ है। छन्दोब्राह्मणानि (४।२।६६) सूत्रसे ज्ञात होता है] भी 'कठ' कहे जाते हैं। यह बात सत्य है, जो पाणिनिके 'कठचरकाल्लुक्' (४।३।१०७) सूत्रसे भी ज्ञात होता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकी कोई कठशाखा थी। यह ज्ञातव्य है कि कोशस्थ ऋचां भेदे का अर्थ 'ऋङ्मन्त्रका भेद' ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि 'ऋक्' मन्त्रके ऐसे किसी भेद– (प्रकार) का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

प्रचलित कठोपनिषदसे अन्य भी कोई कठोपनिषद् थी, ऐसा ज्ञात होता है। छान्दोग्योपनिषद् (६।३।२) की व्याख्यामें 'इति हि काठके' कहकर 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य...' और 'आकाशवत् सर्वगतश्च...' वाक्य उद्धृत किये हैं। इनमें प्रथम वाक्य तो प्रचलित कठोपनिषद् (२।२।१२) में मिल जाता है, पर दूसरा वाक्य नहीं मिलता। वह दूसरा वाक्य भी किसी कठोपनिषद्का होना चाहिए, और हम समझते हैं कि यह वाक्य ऋग्वेदीय कठशाखान्तर्गत कठोपनिषदका है, ऐसी सम्भावना है।[5]

ऋग्वेदीय यह कठ ऋषि कौन हैं, इसका विशिष्ट परिचय नहीं मिलता। शान्तिपर्व (३३६।९) में जो 'आद्यः कठः' वाक्य है, यह सम्भवतः इस कठको लक्ष्य करता हो, यद्यपि इसका गमक कुछ नहीं मिलता। यदि ऐसा न माना जाय, तो यह मानना होगा कि कृष्णयजुर्वेदीय 'कठ' ही ऋग्वेदीय शाखा-विशेषके प्रवचनकारी हैं। यह असम्भव भी नहीं है; क्योंकि अथर्ववेदीय शौनक यदि बह्वृच (ऋक्शाखावित्)

---

१ विष्णुपु. ३।६।२ में सामशाखाकारके रूपमें सुमन्तुका नाम है और ३।६।९ में अथर्वशाखाकारके रूपमें। वायु, ६०।२४–६१ तथा ब्रह्माण्ड १।३४।२४–३५ में भी वेदशाखा–प्रकरण है. यह ज्ञातव्य है।

२ वैदिक वाङ्मयका इतिहास, भाग १, पृ. २७७।

३ वही, पृ. २२९।

४ चौखम्बा–संस्करण, पृ. १०। मुद्रित पाठ है– 'कठो मुनौ ···', पर यहाँ 'कठ' पाठ ही होगा। वस्तुतः, मुद्रण–प्रमादके कारण 'इति द्विस्वरठान्ताः' रूप पाठ इस वाक्यके बाद हो गया है, और इसका पाठ 'जातहर्षे प्रतिहते–' इस पूर्वश्लोकके बाद ही होना चाहिए था। प्रस्तुत 'कठो मुनौ ·' श्लोक 'द्विस्वरठान्तवर्ग' का सर्वादिक श्लोक होगा। मेदिनीकोशके ठद्विकवर्गमें 'कठो मुनौ...' कहा गया है, पर वहाँ वेदका प्रसंग नहीं है।

५ समान नामके एकाधिक उपनिषदोंका अन्य उदाहरण भी मिलता है। श्वेताश्वतर–उपनिषद् २।१४ के शांकरभाष्यमें 'परेषां पाठे' कहकर व्याख्येय मन्त्रका एक पाठान्तर दिया गया है। पर, यह वस्तुतः पाठान्तर नहीं है, बल्कि अन्यशाखीय श्वेताश्वतर–उपनिषद्का पाठ ही है, यह 'परेषां' पदसे ध्वनित होता है, वैदिक सम्प्रदायका व्यवहार ऐसा ही है। श्वेताश्वतर–शाखाकी दो मन्त्रोपनिषद्की सत्ता प्रमाणान्तरसे भी सिद्ध होती है।— वैदिक वाङ्मयका इतिहास, भाग १, पृ. १९६।

हो सकते हैं (जैसा पुराणोंमें माना गया है तथा परम्परामें भी स्वीकृत है), तो यजुर्वेदीयके द्वारा ऋक्शाखाका प्रवचन करना असम्भव नहीं है।

यदि यजुर्वेदीय कठ ही ऋग्वेदीय कठशाखाके प्रवक्ता माने जाँय, तो इस विषयमें एक अन्य तथ्य भी विचार्य है। शान्तिपर्वस्थ (अ. २४६) का प्रतिपाद्य विषय याजुष कठोपनिषद् प्रतिपाद्यविषयवत् ही है। कई श्लोक भी उभयत्र समान हैं। इस अध्यायके १४ वें श्लोकमें कहा गया है कि दशसहस्र ऋङ् मन्त्रको मथकर यह अद्‌भुत ज्ञान निकाला गया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस श्लोककी यहाँ क्या आवश्यकता है? निश्चित ही इसका लक्ष्य ऋग्वेदीय किसी शाखाकी ओर है और उस शाखाके उपनिषद्‌ग्रन्थमें जो ब्रह्मविद्या थी, उसका ही प्रतिपादन शान्तिपर्वके इस अध्यायमें किया गया है। ऐसा मानने पर ही इस श्लोकको यहाँ कहनेकी कुछ संगति लग सकती है। चूँकि शान्ति० (२४६। १३) में रहस्यं सर्ववेदानां कहा गया है, अतः इस निर्देशका सम्बन्ध औपनिषद् भागसे ही है, यह भी सुतरां सिद्ध होता है। ऋक्शाखा-विशेषका जो परिमाण[1] यहां दिखाया गया है, वह इस अनुल्लिखित शाखा (अर्थात्, ऋग्वेदीय कठशाखा) का है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि यह बहुत कुछ सन्दिग्ध है। क्या हम यहाँ यह कह सकते हैं कि इस ऋक्शाखामें भी याजुष कठोपनिषद्-सदृश ज्ञान (तदनुरूप शब्द-व्यवहारपूर्वक) था, जिससे यह भी सिद्धप्राय ही होगा कि यजुर्वेदीय कठर्षि ही ऋग्वेदीय कठशाखाके प्रवर्तक हैं। शान्तिपर्वके इस अध्यायके शब्दोंके साथ कठोपनिषद् शब्दसाम्य और अध्यायान्तमें ऋग्वेदका उल्लेख- ये दो अवश्यमेव कुछ न कुछ अन्तर्निहित बीज रखते हैं, जिसपर विद्वानोंको विचार करना चाहिए।

यह भी ज्ञातव्य है कि जयकृष्णने कहा है कि सिद्धान्तकौमुदी-गत देवाञ् जिगाति सुम्न्युः वाक्य ऋग्वेदीय कठशाखा का है (सुबोधिनी, ७।४।३८)। इनके समय यह शाखा प्रचलित थी या नहीं यह भी विचार्य है (काशिकामें 'जिगाव' पाठ है)।

इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेदीय कठशाखाकी सत्ताको सर्वथा अपलापित नहीं किया जा सकता।

---

१ इस स्थलकी टीकामें नीलकण्ठ 'तदुक्तं शाकलके' कहकर 'ऋचां दशसहस्राणि उच्यते' श्लोकको उद्‌धृत करते हैं। यह श्लोक शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी (४३) में मिलता है, जो शाकलशाखीय है। दोनोंके पाठोंमें ईषत् भेद है।

(१) क्या आप भारतीय संस्कृतिका सच्चा स्वरूप जानना चाहते हैं? (२) क्या आप रामराज्यकी रूपरेखा जाननेके अभिलाषी हैं? (३) क्या आप भारतकी महिमा सुनना चाहते हैं? (४) क्या आप भारतमाताके दर्शनके इच्छुक हैं? और— (५) क्या आप देशभक्तिका मर्म जानना चाहते हैं?

यदि हां !! तो

अवश्य पढिए। सुप्रसिद्ध लेखक श्री वेदव्रत शर्मा कृत

वेद-रत्नाकर

इसमें आपको हर भाग सच्चा मोती प्रतीत होगा। वेदोंके अथाह सागरमें डुबकी लगाकर लेखकने ६ मोतियोंको बाहर निकाला है।

जौहरी बनकर आप भी इनको परखिए। जिसने भी इसे पढा मुक्तकण्ठसे सराहा। मूल्य १.५० पै. (डा. व्य. पृथक्) आज ही लिखिए—

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)', पारडी [जि. बलसाड]

संसारपर विजय कौन प्राप्त कर सकता है ?

[लेखक— श्री भास्करानन्द शास्त्री, सिद्धान्त-वाचस्पति, प्रभाकर, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी (गुजरात)]

★

(४) सम्यक् चित्तनिरोधनात्

अच्छी प्रकार चित्तके निरोधसे अर्थात् चित्तको रोक कर अपने वशमें करनेसे मनुष्य विश्वविजयी बनता है। पातञ्जलि ऋषिने योगदर्शनमें योगका लक्षण करते हुये बताया—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। (समाधिपाद सूत्र २)

अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंका रोकना ही योग है। जब योगी इसमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' जब वृत्तियोंके निरोध होने पर द्रष्टाकी स्वरूपमें अवस्थिति होती है।

चित्तकी चंचलता प्रसिद्ध है सृष्टिके सम्पूर्ण कामोंमें चित्तकी स्थिरता ही सफलताका कारण है। सृष्टिके सारे महापुरुषोंकी अद्भुतशक्तियोंमें उनके चित्तके एकाग्रताका रहस्य छिपा हुआ था। नैपोलियन बोनापार्टके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वह इतना एकाग्रचित्त था कि रणभूमिमें भी शान्तिपूर्वक शयन कर सकता था।

गीतामें कहा है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥
(गी. ६।१८)

जिस समय अच्छी प्रकार स्वाधीन किया हुआ चित्त आत्मा में ही स्थिर होता है। और साधक सम्पूर्ण कामनाओंमें स्पृहारहित होता है तब उसे योग युक्त कहते हैं।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥
(गी. ६।१९)

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीप चलायमान नहीं होता, यह उपमा आत्माके योगका अनुष्ठान करनेवाले स्थिरचित्तयोगीके लिये कही गई है। इससे आगे कहा गया है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
(॥ गी. ६।२०)

योगाभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त जहाँ स्थिर होता है वहाँ वह आत्माको देखता हुआ, आत्मामें सन्तुष्ट होता है।

'चेतस्' को दार्शनिक परिभाषामें 'चित्त' कहते हैं। चित्त अन्तःकरणका वह भाग है जिस पर दैवतमनके क्षेत्रमें हुये अनुभवों और यक्ष मनके क्षेत्रमें होनेवाले कर्मोंके संस्कार अंकित रहते हैं।

चित्तको उत्तम संस्कारोंसे परिपूर्ण करना उन शिलाओं पर खुदाई करनेके समान है जिन्हें समय नहीं मिटा सकता। चित्तका संयम शरीरका आभूषण और प्रकाश होता है। चित्त और इन्द्रियोंके संयम द्वारा शरीरके दिव्य स्वरूपकी रक्षा करनेवाले लोग समाजके मार्गदर्शक होते हैं। उत्तमशिक्षण और श्रेष्ठ संस्कारोंके द्वारा ही यह अच्छा और उपयोगी बनता है।

महाराजा भोजके नगरमें एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे, वे स्वयं याचना नहीं करते थे, और बिना माँगे उन्हें द्रव्य कहाँ से मिलता ? दरिद्रतासे व्याकुल होकर ब्राह्मणने राजभवनमें चोरी करनेका निश्चय किया, और रात्रीमें राजभवनमें पहुँचनेमें भी सफल हो गये।

ब्राह्मण दरिद्र थे, दुःखी थे, धन प्राप्तिके इच्छुक थे राजाके भवनमें पहुँच भी गये। वहाँ सब नौकर, चाकर निश्चिन्त सो रहे थे। स्वर्ण, रत्न आदि अमूल्य पात्र इधर उधर पड़े थे। ब्राह्मण चाहते तो उठा लेते कोई रोकनेवाला न था लेकिन उनका चित्तशुद्ध था, उन्होंने कभी जीवनमें चोरी भी नहीं की थी, जैसे ही कोई वस्तु उठानेका विचार करते वैसे ही रुक जाते थे, चित्तकी ओरसे एक आवाज सी आती—

' ऐसा मत करो ' वस्त्र, रत्न, पात्रादि जो भी ब्राह्मण लेना चाहते उसीको उनका चित्त रोक देता। पूरी रात समाप्त हो गई और ब्राह्मण कुछ भी न ले सके। सेवक जागने लगे। पकडे जानेके भयसे ब्राह्मण राजा भोजकी शय्याके नीचे छिप गये।

नियमानुसार महाराजा भोजके जागरणके समय रानियाँ और दासियाँ सुसज्जित होकर जलकी झारी लेकर तथा अन्य दूसरे उपकरण लेकर शय्याके समीप खडी हुई। परिवार और प्रजाके लोग प्रातःकालीन अभिवादनके लिये द्वारपर एकत्र हुये। सजे हुये हाथी तथा घोडे भी राजद्वारसे बाहर प्रस्तुत किये गये, महाराजा भोज जागे और उन्होंने यह सब देखा, आनन्दोल्लासमें उनके मुखसे एक श्लोकके तीन चरण निकले—

चेतोहराः युवतयः सुहृदोनुकूलाः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गन्तिदन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः,

इतना बोलकर महाराज रुक गये, तो उनकी शय्याके नीचे छिपे विद्वान् ब्राह्मणसे न रहा गया। उन्होने श्लोकका चौथा चरण भी पूरा कर दिया।

संमीलने नयनयोः नहि किञ्चिदस्ति।

महाराज यह सुनकर चौंक पडे। ब्राह्मणको शय्याके नीचेसे निकाला गया। पूछनेपर उन्होंने राजभवनमें आनेकी सब बातें सच सच बता दीं। चित्तकी शुद्धिने उनको चोरीसे बचा लिया। महाराजा भोजने भी ब्राह्मणको प्रचुर धन देकर विदा किया। यह है चित्तका किया हुआ संयम जिसके द्वारा मनुष्य पाप कर्म करनेसे भी बच जाता है।

साधु इब्राहीम आदम घूमते घामते किसी धनवानके बगीचेमें जा पहुँचे। उस धनी व्यक्तिने उन्हें कोई साधारण मजदूर समझकर कहा– ' यदि तुझे कोई काम चाहिये तो बगीचेके मालीका काम करो। मुझे एक मालीकी आवश्यकता है। ' इब्राहीमको एकान्त बगीचा ईश्वर भजनके उपयुक्त जान पडा। उन्होंने उस व्यक्तिकी बात स्वीकार कर ली।

बगीचेमें काम करते हुये कुछ दिन बीत गये। एक दिन बगीचेका मालिक कई मित्रोंके साथ अपने बगीचेमें आया, उसने इब्राहीमको कुछ आम लानेके लिये आज्ञा दी।

इब्राहीम कुछ पके हुये आम तोड कर ले आये किन्तु वे सभी खट्टे निकले। बगीचेके मालिकने अप्रसन्न होकर कहा ' तुझे इतने दिन यहाँ रहते हुये हो गये, लेकिन यह भी पता नहीं कि किस पेडके फल खट्टे हैं, और किसके मीठे। '

साधु इब्राहीमने हंसकर कहा– ' आपने मुझे बगीचेकी रक्षाके लिये नियुक्त किया है, फल खानेका अधिकार तो दिया नहीं है। आपकी आज्ञाके बिना मैं आपके बगीचेका फल कैसे खा सकता था। और खाये बिना खट्टे मीठेका पता कैसे लगता ? ' मालिक आश्चर्यसे साधुका मुख देखता रह गया। इसको कहते हैं चित्तका निग्रह।

मथुराकी सुप्रसिद्ध नर्तकी सौन्दर्यकी मूर्ति वासवदत्ताकी दृष्टि अपने वातायनसे राजपथ पर पडी और जैसे वहीं रुक गई। पीत चीवर ओढे भिक्षापात्र लिये एक युवा भिक्षु नगरमें आ रहा था।

उस भिक्षुको देखकर वह वासवदत्ता जिसके राजमहल जैसे प्रसादकी देहली पर नगरके प्रतिष्ठित धनी मानी लोग एवं राजपुरुष तक चक्कर काटते रहते तथा जिसकी चाटुकारी किया करते थे, वासना ग्रस्त होकर उन्मत्तसी हो गई, और उस भिक्षुके सौन्दर्यमय, अद्भुत तेज युक्त सौम्य मुखको कुछ क्षणों तक ठिठकी देखती रह गई, फिर दौडती हुई सीढियोंसे उतर कर अपने द्वार पर आ गई।

भन्ते ! नर्तकीने भिक्षुको पुकारा।

भद्रे ! भिक्षु आकर गर्दन नीची करके उसके सामने खडा हो गया और अपना भिक्षापात्र आगे बढा दिया।

' आप ऊपर पधारें। ' नर्तकीका मुख लज्जासे लाल हो गया। किन्तु वह अपनी बात कह गई— ' यह मेरा भवन मेरी सब सम्पत्ति और स्वयं मैं अब आपकी हूँ, मुझे आप स्वीकार करें। '

' मैं फिर तुम्हारे पास आऊँगा ? ' भिक्षुने मस्तक उठाकर बडी भेदक दृष्टिसे नर्तकीकी ओर देखा और पता नहीं उसने क्या सोच लिया था ?

' कब '— नर्तकीने हर्षोत्फुल्ल होकर पूछा। ' समय आने पर ' यह कहते हुये भिक्षु आगे बढ गया।

मथुरा नगरके द्वारसे बाहर यमुनाके मार्गमें एक स्त्री भूमि पर पडी थी। उसके वस्त्र अत्यन्त मैले और फटे हुये थे। उसके सारे शरीरमें घाव हो रहे थे। पीप और रक्तसे भरे उन घावोंसे दुर्गन्ध आ रही थी। उधरसे निकलते समय लोग अपना मुँह दूसरी ओर कर लेते और नाक दबा लेते

थे। वह नारी थी वासवदत्ता। उसके दुराचारने उसे इस भयंकर रोगमें ग्रस्त कर दिया। अब वह निराश्रित हुई मार्ग पर पडी थी।

सहसा एक भिक्षु उधरसे निकला और वह उस दुर्दशा ग्रस्त नारीके समीप आकर खडा हो गया। उसने पुकारा ' वासवदत्ता मैं आ गया हूँ। ' ' कौन ' उस नारीने बडे कष्टसे भिक्षुकी ओर देखनेका यत्न किया।

' भिक्षु उपगुप्त ' भिक्षु बैठ गया और उसने नारीके घाव धोने आरम्भ कर दिया।

' तुम ! अब आये अब मेरे पास क्या धरा है ? मेरा यौवन, सौन्दर्य, धन-सम्पदा सभी कुछ तो नष्ट हो गया। नर्तकीकी आखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली।

' मेरे आनेका समय तो अभी हुआ है। ' भिक्षुने उसे धर्मका शान्तिदायी उपदेश देना आरम्भ किया। ये श्रेष्ठ भिक्षु ही आगे चलकर कुछ समय पश्चात् देवप्रिय सम्राट्-अशोकके गुरु हुये। इसको कहते हैं चित्तका सम्यक् निरोध।

महर्षि दयानन्दजीका अपने चित्तपर कितना बडा संयम था, इसका पता उनके जीवनचरित्रके अध्ययनसे लगता है। जब स्वामी दयानन्दजी मथुरामें रहते हुये गुरुवर दण्डी विरजानन्दजीसे व्याकरण आदि शास्त्रोंका अध्ययन करते थे, उन्हीं दिनोंकी बात है, सिद्धान्तवेत्ता महर्षि प्रातः और सायं दोनों समय आत्माकी उन्नतिके लिये समाधि, मानसिक विकासके लिये भावना पूर्ण मन्त्रोंका मनन तथा शारीरिक बलकी वृद्धिके लिये व्यायाम किया करते थे। मथुरानगरीके लोग महर्षिका तेजस्वी मुखमण्डल, विशाल माल तथा भव्यमूर्ति देखकर इनके ब्रह्मचर्यकी मुक्तकंठसे प्रशंसा किया करते थे। उस मुमुक्षु आर्य भिक्षुकी दृष्टि चौराहों, सडकों, गलियों, दुकानों और यमुनाके घाटों पर आते जाते समय दृष्टि सदा नीची रहा करती थी। जहां हजारों स्त्रियां आयाजाया करती थीं ऐसे स्थलों पर भी आदर्श ब्रह्मचारीकी दृष्टि कभी ऊपर नहीं पडती थी। अट्टालिकाओंसे, घाटोंपर, देवमन्दिरोंमें, व्यायामशालाओं तथा दुकानों और पाठशालाओंमें सर्वत्र इनके सच्चरित्रताकी प्रशंसा सुनी जाती थी।

एकबार महर्षि स्वामी दयानन्दजी यमुनाके किनारे समाधि लगाये बैठे थे, उस समय एक भक्तिशालिनी कुल वन्ती स्त्रीने आकर भक्तिपुरस्सर उनके चरणोंपर अपना मस्तक रख दिया। इससे यह महात्मा चमक उठे और आखें खोलकर कहने लगे कि ' हे माता ! हे माता ! ' यह तुमने क्या किया ? ऐसा कहकर उठ खडे हुये।

स्त्रीस्पर्शरूपी दोषके परिमार्जनार्थ गोवर्धन पर्वत पर तीन दिन एकान्तवासमें निराहार रहकर संयमी दयानन्दने समाधी लगाई। चौथे दिन जब गुरुवर विरजानन्दजीके समीप गये और नम्रतापूर्वक प्रणाम किया उस समय गुरुवर विरजानन्दजीने उत्कण्ठासे पूछा कि- हे वत्स ! क्या कारण था कि तुम तीन दिन तक पढने नहीं आये। तब चित्त पर संयम रखनेवाले संयमी दयानन्दने अपना सब वृत्तान्त गुरुवरसे कह सुनाया। इस घटनाको सुनकर दण्डी स्वामीजी रोमाञ्चित हो गये और ऋषिवरके संयम, चित्तके निरोधको देखकर फूले न समाये। इस प्रकार ' सम्यक् चित्तनिरोधनात् ' के द्वारा मनुष्य विश्व विजयी बनता है।

उपरोक्त जो आठ बातोंका उपदेश महाभारत वन पर्वमें मुनिवरने धर्मराज युधिष्ठिरको दिया जिसको ग्रहण करके और उन उपदेशोंमें बताये हुये कर्मोंको करके वह महाराजा युधिष्ठिर पुनः विश्वविजयी बने। अतः हम सब भी उन्हीं आठ प्रकारके कर्मोंको करते हुये विश्वविजयी बननेका प्रयत्न करें। सफलता अवश्य मिलेगी इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। 卐 卐 卐

संस्कृत-पाठ-माला

[२४ भाग]

(संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

प्रतिदिन एक घण्टा अध्ययन करनेसे एक वर्षमें आप स्वयं रामायण-महाभारत समझ सकते हैं।

२४ भागोंका मूल्य	१२.००	१.२५
प्रत्येक भागका मूल्य	.५०	.१२

संस्कृत पुस्तकें

१ सूक्ति-सुधा	.३१	.०६
३ सुबोध-संस्कृत-ज्ञानम्	१.२५	.२५
४ सुबोध संस्कृत व्याकरण भाग १ और २, प्रत्येक भाग	.५०	.१२
५ साहित्य सुधा (पं. मेधाव्रतजी) भाग १	१.२५	.२५

मंत्री— स्वाध्याय मण्डल, पो- ' स्वाध्याय मण्डल (पारडी) ' पारडी, [जि. बलसाड]

वैदिक विश्वसंस्कृति एवं पर्वविज्ञान

(लेखक— श्री रणछोडदास 'उद्धव' संचालक अ. भा. रविधाम, केन्द्र महिदपुर [म. प्र.])

[गताङ्कसे आगे]

संस्कृतिके चार प्रकार

संस्कृति ही राष्ट्रकी मूल प्राणप्रतिष्ठा है। जिसके सम्प्रदायवाद, मतवाद एवं सत्तावाद आदिकी निरपेक्षासे ही उन चतुर्विध शक्तियोंके समन्वयका महान् बल समन्वित रहा करता है। जिस समन्वयके अनुग्रहसे राष्ट्र व्यक्तित्वके मोहसे अलग रहता हुआ 'राष्ट्र' को ही अपना मूल केन्द्र मान लेता है। इस केन्द्रप्रतिष्ठाके आश्रयके अनन्तर विश्वकी कोई भी शक्ति इसकी ओर टेढी दृष्टिका साहस नहीं कर सकती। आत्ममूला ज्ञानशक्ति, बुद्धिमूला पौरुषशक्ति, मनोमूला (कामगर्भिता) अर्थशक्ति एवं शरीरमूला (अर्थगर्भिता) कामशक्ति, इन चारों शक्तियोंसे समन्वित राष्ट्र ही सर्वाङ्गीण सशक्त राष्ट्र माना गया है। क्योंकि राष्ट्र न तो किसी भूखण्ड–विशेषका नाम है, न किसी पदप्रतिष्ठा, धन-प्रतिष्ठा या प्रमाणपत्र–प्रतिष्ठाका ही नाम है। किन्तु उस 'मानव-सम्पत्ति' का ही नाम राष्ट्र है, जिसका स्वरूप आत्मा, बुद्धि, मन एवं शरीर, इन चार पर्वोंसे समन्वित हुआ है। इस भारतीय संस्कृतिमूलक 'मानव' के चार पर्ववाले मौलिक स्वरूपसे ही भारतीय मानव वञ्चित होता आ रहा है विगत अनेक शताब्दियोंसे।

विश्वेश्वरका सुप्रसिद्ध भूपिण्डपर्व मानवके शरीरका निर्माण करता है, चन्द्रके तत्त्वसे मानवके मनका एवं सुप्रसिद्ध सूर्यसे मानवकी बुद्धिका स्वरूप निर्मित होता है। पृथिवी, चन्द्रमा और सूर्यरूप प्राकृतिक त्रैलोक्य जिस लोकातीत अतएव इन्द्रियातीत चौथे व्यापक आत्मतत्त्व पर या पुरुषतत्त्व पर प्रतिष्ठित है, वही मानवका चौथा पर्व 'आत्मा' है। आत्मभावसे यही मानव पुरुष है एवं बुद्धि, मन तथा शरीरसे वही मानव प्रकृति है। प्रकृति–पुरुषके इस दाम्पत्यरूप समन्वित भावका ही नाम 'मानव' है। जिस मानवमें मानवके ये प्रकृति–पुरुषरूप चारों पर्व विरोधरहित समन्वित रहते हैं, वही मानव अपने स्वरूपसे प्रकाशित रहता है। यही इसका 'राजते' भाव है। ऐसे समन्वित 'राजते' लक्षणवाले मानवश्रेष्ठोंकी समष्टिका ही नाम 'राष्ट्र' है और यही 'राष्ट्र' शब्दकी सांस्कृतिक स्वरूप–व्याख्या है। जिसे आज भुला दिया है और जड भूत–समष्टिका ही नाम राष्ट्र मान लिया है एवं इस जडभूतको ही राष्ट्रीय प्रगति कहते आ रहे हैं।

मानवके चारों पर्वोंमेंसे जो भी पर्व भावुकतावश समत्वयोगात्मक या बुद्धियोगात्मक पारिभाषिक 'योग' से वञ्चित हो जाता है, राष्ट्रका वही अंश अशक्त बन जाता है। उदाहरणके लिए मान लीजिए– राष्ट्रीय मानवोंने 'शरीर' का ही नाम 'मानव' मान लिया और मन–बुद्धि–आत्मा इन तीनों पर्वोंकी इसने उपेक्षा कर दी, तो परिणाम यह होगा कि ऐसे शरीर प्रधान मानवोंकी समष्टिरूप राष्ट्र भी केवल शरीर ही शरीर रह जायगा। उस दशामें 'मानसिक चिन्तन, बौद्धिक विचार–विमर्श एवं सर्वोपरि आत्मज्ञान' ये तीनों धर्म पराङ्मुख हो जायँगे। ऐसा शरीरात्मक जड मानव राष्ट्रको केवल जडभूत–योजनाओंके वारुणपाशमें ही बाँध देगा।

शरीरके साथ–साथ मानवने अनुग्रह कर मनको भी अपना लिया, पर किस मनको? बुद्धियुक्त मनको नहीं, किन्तु शरीरयुक्त मनको अर्थात् अर्थयुक्त कामको। यह अर्थासक्त धैर्य छोडकर अमर्यादित रूपसे उन मानसिक व्यासङ्गोंमें ही प्रवृत्त हो जायगा, जिन्हें आजकी भाषामें 'सांस्कृतिक–आयोजन' कहा जा रहा है।

सारांश यह कि– अर्थासक्त काममय मनसे गीत, वाद्य, नृत्य, नाटक आदि मानसिक भावुकताओंके प्रवाहमें ही राष्ट्र प्रवाहित हो जायगा। जहाँ धृतिगुणका और उसकी मूला बुद्धिनिष्ठाका प्रवेश भी निषिद्ध बन जाया करता है। 'मनसे नाचना, गाना, बजाना एवं शरीरसे खाना–पीना' इस वाक्यमें ही राष्ट्रकी स्वरूपव्याख्या समाप्त हो जायगी, जिस

व्याख्याके निःसीम अनुग्रहसे ही कमलाविलास–मदोन्मत्त भारतीय सत्ताधीश निकट भूतपूर्वमें ही पदप्रतिष्ठासे इसी राष्ट्रके जनतन्त्रके द्वारा पदच्युत कर दिये गये हैं।

मानवने अपनी मानवता पर अनुग्रह कर अपने तीसरे बुद्धिपर्वको भी अपना लिया एवं इससे वह विचार–विमर्श–मार्गका भी अनुगामी बन गया, तो वह मानव 'बुद्धिवादी' मानव कहलायगा, जिसे हम मनःशरीर परायण प्राकृत–मानव की अपेक्षा भी कहीं अधिक मात्रामें स्वरूप विमुग्ध कहेंगे। क्यों? इसलिए कि 'बुद्धिवादी' बनना एक पक्ष है और 'बुद्धिमानी' करना अन्य पक्ष है एवं इन दोनोंके सिवा तीसरा पक्ष वह है, जिसे लोकभाषामें 'मनमानी' बात कहा गया है। सबके आधार आत्मब्रह्मके अनुग्रहसे रहित बुद्धिमें चार महाभयानक दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं, जिन्हें शास्त्रीय परिभाषामें (१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) आसक्ति और (४) अभिनिवेश कहा गया है।

सत्वगुणके भावको प्रकट करनेवाली ज्ञानके साथ विज्ञान विद्या ही 'विद्या' है। जिसके निगमागम–पुराणादि शब्दात्मक वितान माने गए हैं एवं जिसके गर्भमें अभ्युदयरूप लोकवैभव तथा निःश्रेयसरूप आत्मभाव प्रतिष्ठित है। इस विद्यासे विपरीत रजोगुण और तमोगुणके भाव बढानेवाले सभी ज्ञान–विज्ञान आत्माके नित्य ज्ञान विज्ञान भावोंके प्रतिबन्धक बनते हुए 'अविद्या' नामसे कहे गये हैं। आत्मविद्यासे रहित भूतविद्या ही 'अविद्या' कहलाई है। जिसे शास्त्रने 'अज्ञान' भी कहा है, जिसका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है किन्तु आत्मविद्याका आवरण करनेके कारण ही लोकविद्या अज्ञान कहलाई है। जो आत्म प्रवञ्चनासे बुद्धिको मोहकलिलसे युक्त कर देती है। जैसा कि— '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।**' इत्यादि गीतावचनसे स्पष्ट है।

अविद्यादोष ही मानवकी बुद्धिमें भयानक दूसरा दोष उत्पन्न कर देता है, जिसे अस्मिता कहा गया है। आत्माके ऐश्वर्यसे रहित बुद्धि मानसिक सीमितभाव बन्ध कर अपने उस विकास रूपसे वंचित ही रह जाती है। सब कुछ है, किन्तु मान रहे हैं अपने आपको सर्वशून्य इसी हीनताका नाम 'अस्मिता' है। संकुचित हृदय, संकुचित विचार, संकुचित दलवाद, संकुचित मतवाद, संकुचित अर्थवाद, सर्वत्र हीन हीन भावना, सर्वत्र निराशामें निमग्नता आदि सब दोष इस अस्मिताके ही अनुग्रहके पुष्प हैं। यह अस्मिता–दोष (अविकास) ही कालान्तरमें अपने अभिन्न–मित्र 'आसक्ति' दोषको आमन्त्रण करने लग पडता है। भूतविषयों, भूतमतों एवं भूतप्रतिष्ठाओंको इस भयसे आलिङ्गित कर लेना कि अमुक भूत, अमुक पदप्रतिष्ठा यदि चली गई तो क्या करेंगे? क्या व्यक्तित्व रह जायगा हमारा? यही आसक्ति दोष है।

जो मानव दूसरेकी अपेक्षासे, जिस मान्यताके द्वारा, जिस तन्त्रसे, अपने भौतिक बाह्य व्यक्तित्वको प्रतिष्ठित मान लेता है, वह उसी व्यक्तित्वमें पूर्ण आसक्त होजाता है। यह आसक्तिका अन्तिमरूप ही सर्वान्तमें घोर–घोरतम उस 'अभिनिवेश' बुद्धिदोषमें परिणत होजाता है; जिस दोषबिन्दुका सम्मान्य अतिथि बन जानेवाला मानव कदापि मानवता, मानवधर्म, मानवसंस्कृति, धर्म–आदि सत्वविभूतियोंके संस्मरणका भी पात्र नहीं रह जाता।

चारों बुद्धि दोषोंमें अन्तिम इस 'अभिनिवेश' का अर्थ है– 'दुराग्रह'। इस मूलमें ही कल्पित होते हैं–सत्याग्रह, अहिंसाग्रह, मानवताग्रह, वर्गभेदविनाशाग्रह आदि–आदि। उन्हें मानव इसलिए नहीं छोडना चाहता कि– इसके सम्पूर्ण भूतजीवनका सम्पूर्ण इतिहास इस आग्रह की कृपासे ही प्रतिष्ठित रहता है। यदि अभिनिवेशात्मक इस आग्रहको यह छोड देता है, तो इसे उस आसक्तिका भी परित्याग कर देना पडता है, जिसकी कृपासे यह अपने कल्पित व्यक्तित्वमें आसक्त हो रहा है। आसक्तिके परित्यागके लिए अस्मिता (अविकास) का त्याग अनिवार्य बन जाता है एवं अस्मिताके लिए उस अविद्या संस्कारको भी भुला देना आवश्यक बन जाता है, जिस संस्कारने ही इसे बन्धनकारक व्यक्तित्व प्रदान कर रक्खा है। यों इस अभिनिविष्ट व्यक्तिको दुराग्रहके परित्यागके साथ–साथ ही सभी कुछ छोड देना पडता है। छोड देना एक पक्ष है और छोड नहीं सकना, यह अन्य पक्ष है।

जहांतक इसको लोकदृष्टि जाती है, वहांतक तो इस छोड देनेको यह अपने व्यक्तित्वका सर्वनाश ही मान बैठता है। जबकि वस्तुतः मानवताके मापदण्डसे यह इसका व्यक्तित्व है ही नहीं। किन्तु आत्मका स्पर्श भी नहीं करने देती। अतएव इसे उस वास्तविक व्यक्तित्वका बोध ही

नहीं हो पाता। यह इस कल्पित व्यक्तित्वको ही अपना वास्तविक व्यक्तित्व माननेमें आविष्ट बना रह जाता है। यह बुद्धिवादी मनमानी करनेवाला मानव ' समझते हैं, किन्तु मानते नहीं ' सिद्धान्तवाला है। यही दुराग्रहरूप अभिनिवेशकी स्वरूप-परिभाषा मानी गई है।

बुद्धिके अविद्या-दोषको हटानेके लिए निगमागमके स्वाध्यायके द्वारा ज्ञान-संस्कारका सम्पादन करना पडेगा, अस्मितादोष ऐश्वर्यसे भगेगा, रागद्वेषात्मिका आसक्ति निष्कामकर्मयोगात्मक वैराग्यसे हटेगी एवं दुराग्रहरूप अभिनिवेश धर्माचरणसे ही निवृत्त होगा। इन चारों आचार-पद्धतियोंका विधि-निषेधात्मक निरूपण स्मार्त ' धर्मशास्त्र ' में हुआ है, मौलिक रहस्य प्रतिपादन ' वेदशास्त्र ' में हुआ है एवं लोकानुगत कौशल-प्रतिपादन सुप्रसिद्ध ' गीताशास्त्र ' में हुआ है। गीताशास्त्रको सत्त्वनिष्ठ एवं आचारनिष्ठ विद्वानोंने ' बुद्धियोगशास्त्र ' ही कहा है, जिसमें ' सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग, राजविद्यानुगत ऐश्वर्यबुद्धियोग, राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग ' तथा ' आर्षविद्यानुगत धर्मबुद्धियोग ' भेदसे उन चतुर्विध बुद्धियोगके कौशलका ही निरूपण हुआ है; जिसके द्वारा मानवकी बुद्धिके अविद्या-अस्मिता- आसक्ति-अभिनिवेश नामक चारों ही दोष निवृत्त हो जाते हैं। इस आचरणपद्धतिके अनुगमनसे ही मानव बुद्धिवादके कीचडसे निकल सकता है। जिस कीचडसे मानव समझता हुआ भी इसलिए नहीं निकल रहा है कि इसका आज न तो सांस्कृतिक आचारसे कोई सम्बन्ध रहा है और न इसके सांस्कृतिक आयोजन ही स्वस्वरूपसे व्यवस्थित हैं।

जिन भारतीय विद्वानोंने अतीत युगोंमें ' मिलिंद-अशोकादि ' बुद्ध राजाओंके शून्य एवं क्षणिक-वादात्मक अनात्मवादोंका यशोगान किया, उसी शास्त्रप्रामाण्यसे जिन विद्वानोंने गुप्तसाम्राज्यकालमें कमला-विलास-मदोन्मत्त भारतीय राजाओंकी शृङ्गाररसपरायणा लोलुपताओं और विलासलीलाओंके अनुरञ्जनके लिए उस रसप्रधान साहित्य-संगीत-कलाभावोंका सर्जन करते हुए अपने कामुकतापूर्ण साहित्यिक रसको सर्व बलविशिष्टरसघन परात्परके आनन्द-रसप्राप्तिका साधन प्रमाणित कर दिया। आगे चलकर जिन विद्वानोंने सत्ताकी शिथिलतासे उत्पन्न हुए विविध मतवादों और संप्रदायवादोंके प्रति आत्मसमर्पण करते हुए निगमागमशास्त्रको मतवाद समर्थनमें प्रधानता प्रदान कर डाली और आगे चलकर जिस मुगलसाम्राज्यकालमें जिन इन्हीं भारतीय विद्वानोंने ' दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा ' के सांस्कृतिक-निनादसे भारत वसुन्धराके वक्षस्थलको विदीर्ण करते रहनेमें किंचित् भी लज्जाका अनुभव नहीं किया और इन्हीं वेद-स्मृति-पुराणभक्त भारतीय विद्वानोंने ब्रिटिश सत्ताकालमें सर्व श्री विक्टोरिया, सप्तम एडवर्ड-पंचमजार्ज आदिकी स्वास्थ्य कामनाके लिए अपने देवमन्दिरोंमें नवीन कार्य्यों का निर्माण कर उनसे विभिन्न उपाधि-सम्मान प्राप्त करते रहना विस्मृत नहीं किया, तथा जिन भारतीय वीतराग-संन्यासी बाबाओंने ब्रिटिश सत्ताके अवसानकालात्मक युद्धके अवसर पर ब्रिटिश सत्ताके प्रतिद्वन्द्वी ' श्रीतोजो-हिटलर ' आदिके सर्वनाशके लिए ब्रिटिशराजधानी देहलीमें यज्ञानुष्ठान कर अपनी राजभक्तिके आटोपपूर्ण-प्रदर्शनमें ही भारतराष्ट्रकी मूलसंस्कृतिनिष्ठाकी भी मानो अन्तिम बार आहुति ही दे डाली, वे ही भारतीय विद्वान् उसी शास्त्रके बलपर आज वर्तमान सत्तातन्त्रकी कृपाभिक्षा-प्राप्तिके लिए ही ' गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रका ' जोड-तोड बैठानेमें ही अपनी सांस्कृतिक-प्रज्ञानज्योतिको उत्पीडित करते जा रहे हैं।

भारतीय सांस्कृतिक ' मानव ' ही ' भारतराष्ट्र ' है, जिस पुरुष-प्रकृतिरूप राष्ट्रमानव या मानवराष्ट्रके प्राङ्गणमें आत्मदेव-संस्कृति मूला एक ही संस्कृति मानवीय चार पर्वोंके अनुबन्धसे क्रमशः- ' आत्मसंस्कृति, बुद्धिसंस्कृति, मनःसंस्कृति एवं शरीरसंस्कृति ' इन नामोंसे प्रसिद्ध है। ये चारों ही आत्ममूला बनती हुई परस्पर निर्विरोध समन्वित हैं। इसी चार संस्कृतिसे युक्त संस्कृतिका नाम ' मानव-संस्कृति ' है। आत्मपुरुष एवं आत्मप्रकृतिके भेदसे इसी मानवसंस्कृतिके आगे चलकर दो महिमाविवर्त हो जाते हैं- आत्मपुरुषसंस्कृति एवं आत्मप्रकृतिसंस्कृति, इन दोनोंके शास्त्रीय नाम हैं— ' पुरुषार्थ ' और ' क्रत्वर्थ ' (प्रकृत्यर्थ)। पुरुषार्थ संस्कृतिका ही नाम है- ' सांस्कृतिक-आचार '। जिसका एक वाक्यमें अर्थ है— ' सोलह प्रकारके संस्कार '। यही ' मोक्षसंस्कृति, धर्मसंस्कृति, कामसंस्कृति एवं अर्थसंस्कृति ' नामसे कही गई है। इन चारों संस्कृतियोंको आस्तिकप्रजा ' चतुर्विध पुरुषार्थ ' नामसे सुनती आरही है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष या मानवीय चारों पर्वोंके क्रमानुसार

'आत्मानुगत मोक्ष, बुद्ध्यनुगत धर्म, मनोऽनुगत काम एव शरीरानुगत अर्थ' नामक चारों सुप्रसिद्ध पुरुषार्थ ही पुरुषार्थ संस्कृति या पुरुषसंस्कृति है। इनमें मानवके आत्मा और बुद्धि नामक दो पर्व प्रधान बने रहते हैं एवं मन तथा शरीरपर्व गौण बने रहते हैं। यही 'भारतीय सांस्कृतिक आचार' है।

दूसरी प्रकृत्यर्थ–संस्कृति है। प्रकृतिप्रधान स्त्री एवं बाल-वृन्द आदि मनःशरीरप्रधान जन सांस्कृतिक–आचारमें असमर्थ हैं। अतएव इनके पारस्परिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस-के लिए जो बाह्य आचारप्रधान मानसिक भावुकता-संरक्षक लोकाचार व्यवस्थित हुए हैं, उसी लोकाचार समष्टिका नाम है– 'प्रकृत्यर्थ–संस्कृति'। जिसमें आत्मा और बुद्धि गौण बने रहते हैं एवं मनःशरीर-पर्व प्रधान बने रहते हैं। पुरुषार्थ–संस्कृतिके समान यह प्रकृत्यर्थ–संस्कृति भी चार ही भागोंमें विभक्त है, जिन चारों संस्कृतियोंकी समष्टिका ही नाम है– 'सांस्कृतिक–आयोजन'।

सांस्कृतिक–आचार एवं सांस्कृतिक–आयोजन, इन दोनों-के समन्वितरूपका ही नाम है–सांस्कृतिकमानव और ऐसे मानवोंकी समष्टिका ही नाम है– 'भारतराष्ट्र'। जो इन दोनों वैदिक और लौकिक संस्कृतियोंसे पराङ्मुख बनकर अधिदेव-भारतके नामसे युक्त 'भारतराष्ट्र' तो कदापि नहीं कहला सकता। चतुर्विध पुरुषार्थ एवं चतुर्विध प्रकृत्यर्थ, इन दोनोंमेंसे चतुर्विध प्रकृत्यर्थ अर्थात् सांस्कृतिक–आयोजन ही प्रस्तुत निबन्धका मुख्य विषय है।

वैयक्तिक–मानवीय —>	पारिवारिक —>	सामाजिक —>	राष्ट्रीय
१– जो आत्मा है,	वही कुलवृद्ध,	वही ब्राह्मण,	वही नीतितन्त्र है
२– वही बुद्धि है,	वही युवापुरुष,	वही क्षत्रिय,	वही राजतन्त्र है
३– जो मन है,	वही नारी,	वही वैश्य,	वही गणतन्त्र है
४– वही शरीर है,	वही बालक,	वही शूद्र,	वही प्रजातन्त्र है

'मानवीय आत्मा, पारिवारिक वृद्ध, सामाजिक ब्राह्मण और राष्ट्रीय नीतितन्त्रसे युक्त आयोजन ही प्रथम आयोजन है। मानवीया बुद्धि, पारिवारिक युवा पुत्र, सामाजिक क्षत्रिय और राष्ट्रीय राजतंत्रसे युक्त आयोजन ही द्वितीय आयोजन है। मानवीय मन, पारिवारिक नारीवर्ग, सामाजिक वैश्य और राष्ट्रीय गणतंत्रसे युक्त आयोजन ही तृतीय आयोजन है एवं मानवीय शरीर, पारिवारिक बालवर्ग, सामाजिक शूद्र तथा राष्ट्रीय प्रजातंत्र, इन चारोंसे युक्त आयोजन ही चतुर्थ आयोजन है। एवं यही चतुर्विध प्रकृत्यर्थरूप, प्रकृति संस्कृतिरूप प्राकृत– सांस्कृतिक आयोजनोंका संक्षिप्त किन्तु सम्पूर्ण इतिहास है।'

जो मानव अपने शारीरिक दृष्टिके सिवा परिवार, समाज, राष्ट्र आदिकी कोई चिन्ता नहीं करता, वह व्यक्तिवादी मानव ही 'शूद्रमानव' है। जो मानव अपने साथ–साथ अधिकसे अधिक अपने परिवारमें भी आसक्त बना रहता है, अतएव अपने इस मानसिक–भावसे समाज तथा राष्ट्रके हितोंकी कल्पना भी नहीं कर सकता, वही 'वैश्यमानव' है। जो मानव अपने परिवारकी चिन्ताके साथ–साथ अपने प्रान्तीय समाजकी चिन्ताका भी पथिक बना रहता है बुद्धिभावके माध्यमसे, किन्तु राष्ट्रहित जिसकी दृष्टिमें गौण ही बना रहता है, वही 'क्षत्रियमानव' है। एवं जो मानव अपने परिवार और समाजके उत्तरदायित्वको सुरक्षित रखता हुआ सम्पूर्ण राष्ट्रकी चिन्ता करता हुआ विश्वबन्धुत्वके प्रति आत्मसमर्पण किये रहता है, वही आत्मनिष्ठ 'ब्राह्मणमानव' है। इसी

दृष्टिसे आत्मप्रधान राष्ट्रीय आयोजनोंको ' ब्राह्मण–आयोजन बुद्धिप्रधान सामाजिक आयोजनोंको ' क्षत्रिय–आयोजन ' मनःप्रधान परिवारिक आयोजनोंको वैश्य–आयोजन एवं शरीर प्रधान वैय्यक्तिक आयोजनोंको ' शूद्र–आयोजनके नामसे व्यवहृत किया जा सकता है। चारों ही आयोजन प्रकृति संस्कृतिमूलक बने रहते हुए आत्मसंस्कृतिक द्वारा परस्पर निर्विरोध समन्वित रहते हुए सर्वाङ्गीण ' सास्कृतिक–आयोजन ' ही प्रमाणित हो रहे हैं।

सांस्कृतिक–आयोजन शब्दके अक्षरार्थ भी देख लेते हैं। ' सांस्कृतिक और आयोजन ' ये अलग–अलग अवयव हैं। समब्रह्म अर्थात् आत्मदेवकी कृति ही संस्कृति है, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। जिस आयोजनमें समब्रह्ममूलक या आत्मासे अभिन्न प्राणात्मक ' देवता ' तत्वमूलक दिव्यभाव समाविष्ट होंगे, वे ही आयोजन–' सांस्कृतिक–आयोजन ' कहलाएँगे। ' आयोजन '–शब्दमें ' आ–योजन ' ये दो विभाग हैं। योगात्मक ' युजिर् धातु (युजिर–योगे) से ल्युट प्रत्ययके द्वारा ' आङ् ' नामक उपसर्गके सम्बन्धसे ' आयोजनम् ' शब्दका निर्माण हुआ है। ' आङ् ' का अर्थ है समन्तात् सब ओरसे, ' योजनम् ' का अर्थ है योग–मेल। जिसके द्वारा सब ओरसे भावों तत्वों या पदार्थोंका एकत्र योग हो जाय वह कर्म ' आयोजन ' है। अनेक कारणोंके सब ओरसे युक्त हो जाने पर निष्पन्न हो जानेवाला भाव–तत्व–पदार्थ ही आयोजन है।

जो युक्त होनेवाले भावादिके स्वरूप–तारतम्यसे भावायोजन, तत्वायोजन, पदार्थायोजन, भूतायोजन, भोजनायोजन शयनायोजन, गमनायोजन, भ्रमणायोजन आदि–आदि रूपसे असंख्य विभागोंमें विभक्त माना जा सकता है। आयोजनका स्वरूपनिर्माण करनेवाले पदार्थ इधर–उधर विभिन्नस्थानमें, विभिन्न दिशामें और विभिन्न अवस्थामें विभक्त रहते हैं। उन सबको उन–उन स्थान, दिशा और अवस्थासे संग्रहीतकर सबका एकत्र योग करा देनेसे ही उन–उन आयोजनोंका स्वरूप बनता है। जैसे–कहीं चांवल पडे हैं, कहीं पात्र हैं और कहीं लकडी है; उनको मिलाना आयोजन कहा जाता है। प्राचीन कारिकामें कहा है—

कुत्रचित् तण्डुलाः सन्ति, क च स्थाली, क चेन्धनम्।
तेषामायोजनं कुर्वन् मुख्यः कर्ताऽभिधीयते ॥

अमुक ' शास्त्रीय आचार ', अमुक ' तत्वचर्चा ', अमुक ' मंगलगान ' एवं अमुक ' भोजनायोजन ' ये चारों ही आयोजन प्रत्येक आयोजनके अंग बने ही रहने चाहिए। चारोंमेंसे एकका भी अभाव आयोजनके स्वरूपको उसी प्रकार दूषित बना देता है, जैसे कि आत्मा, बुद्धि, मन और शरीर, इनमेंसे एकका भी अभाव मानवको मानवस्वरूपसे पराङ्मुख बना देता है। इस सम्बन्धमें यही जान लेना है कि–परम सांस्कृतिक आचारनिष्ठ राजस्थानकी राजधानी जयपुरमें सामान्यरूपसे सदा ही, किन्तु विशेषरूपसे प्रत्येक पुरुषो. त्तममासमें वेदसिद्ध (' येन यज्ञस्तायते सत होता '– यजुर्वेद ३४।४) ' ' सप्ताहयज्ञ ' के सांस्कृतिक आचारके प्रतीकभूत पौराणिक ' सप्ताहकथा ' नामक सांस्कृतिक आयोजन बडे ही समारोहके साथ नगरके देव मन्दिरोंमें प्रजाके सहयोगसे ही मनाये जाते हैं।

अमुक माङ्गलिक तिथि–नक्षत्रके पावन मुहूर्तमें सप्ताह-पारायण प्रारंभ होता है। सप्ताहके अधिदेवता भगवान् विष्णुका पूजन–स्थापनहवन आदि वे सभी शास्त्रीय आचार-निष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न किए जाते हैं, जिन का मानवके भूतात्मासे सम्बन्ध है। तदनन्तर व्यासपीठ पर समारूढ कथावाचक महानुभावके द्वारा विश्लेषणपूर्वक तत्वचर्चात्मक सात दिवस पर्यन्त कथा होती है, जिसका बुद्धिसे सम्बन्ध है। सप्ताहतक पारायणपाठके लिए पारायण-यज्ञमें १०८ ब्राह्मणोंके द्वारा होनेवाले पारायणपाठमात्रका भूतात्माकी शान्तिसे भी सम्बन्ध है एवं बुद्धिकी वैयक्तिक तृप्तिसे भी सम्बन्ध है। कथाके आरम्भमें एवं कथा समाप्ति पर प्रतिदिन कथामें इकट्ठे हुए श्रद्धालुवर्गके द्वारा भगवत्स्मरणात्मक संगीतका भी आयोजन होता है, यही मानसिक तृप्तिका संग्राहक तृतीय आयोजन है। सबके अन्तमें शामको शरीरपुष्टिके लिए ब्राह्मणभोजनका आयोजन प्रतिदिन होता है। यह चतुर्थ पर्वका संग्राहक आयोजन है।

महाराष्ट्रीय श्रद्धालु प्रजाका— ' सत्यनारायणाची महापूजा ' नामसे प्रसिद्ध सांस्कृतिक आयोजन भी प्रतिपूर्णिमाको आयोजनकी चार पर्ववाली वृत्तिको ही प्रमाणित कर रहा है। १ भूतात्माकी शान्तिसे सम्बन्ध ' विष्णुदेवका स्थापन ' रखता है, २ बुद्धिकी तृप्ति ' सत्यनारायणकी कथा ' करती है, ३ मनकी तुष्टि भावुक भक्तोंके द्वारा झाँझ–ताल–मृदङ्गके द्वारा

' विष्णुस्तवन ' से होती है एवं सबके अन्तमें ४ शरीरपुष्टि ' प्रसादवितरण ' से होती है। इस रूपसे स्पष्ट ही इसका परिपूर्ण आयोजनत्व सिद्ध है। इसी प्रकार बडेसे बडा आयोजन हो अथवा छोटेसे छोटा आयोजन हो, प्रत्येक आयोजनमें न्यूनाधिकरूपसे चारों ही भाव अवश्यमेव समन्वित रहेंगे। यही भारतीय पारिभाषिक चतुष्पर्वा मानवकी चतुष्पर्वा सांस्कृतिक-आयोजनकी मूल स्वरूप व्याख्या होगी और यही वह कसौटी होगी, जिसके माध्यमसे ही सांस्कृतिक आयोजनोंकी प्रामाणिकता एवं उपादेयताका मूल्याङ्कन सम्भव बन सकेगा।

' आयोजनमें न्यूनाधिक रूपसे चारों ही भाव अवश्यमेव समन्वित रहेंगे ' इस वाक्यसन्दर्भका स्पष्ट समन्वय किया जाता है कि- प्राकृतिक तत्व, गुण और धर्मोंसे उत्पन्न व्यक्तिमानवके तत्व, गुण एवं धर्म ही सबसे पहले उसके परिवार रूप छोटे समाजमें प्रकट होते हैं। पारिवारिक छोटा समाज ही मानवव्यक्तिका उत्तर भावी दूसरा व्यक्ति है। इस व्यक्तिके तत्व, गुण एवं धर्मादि ही इसके बडे ' समाज ' नामक महान् परिवारके स्वरूपमें प्रकट होते हैं। ऐसे समाजोंका प्रकट स्वरूप ही अन्तमें जाकर ' राष्ट्र ' रूपमें परिणत होता है। यों प्राथमिक ' व्यक्तिमानव ' ही ' परिवारमानव ' परिवारमानव ही ' समाजमानव ' एवं समाजमानव ही अन्तमें ' राष्ट्रमानव ' इन चार वर्गभावोंमें परिणत हो रहा है।

' व्यक्ति ' का अर्थ है-' अभिव्यक्तित्व ' एवं अभिव्यक्तित्वका सम्बन्ध है एकमात्र आत्मा (भूतात्मा) से। जिस मानवका स्वरूप आत्माके अभिव्यक्तिसे व्यक्त रहता है, वही मानव ' व्यक्ति ' कहलाया है एवं ऐसे व्यक्तिमानवका व्यक्तित्व ही समाजमें प्रतिष्ठित माना गया है। आत्माके अभिव्यक्तित्वसे पराङ्मुख मानव केवल बुद्धि, मन एवं शरीरजीवी बननेसे आत्माके अभिव्यक्तित्वसे रहित कृमि, कीट, पक्षी और पशु प्राणीवर्गोंमें ही अन्तर्भूत मान लिया गया है। अतएव कहा और माना जा सकता है कि चारों पर्वोंमेंसे मानवका आत्मपर्व ही ' मानवव्यक्ति ' के व्यक्तित्वकी मूल प्रतिष्ठा है, इसलिए व्यक्तिमानवको हम ' आत्मप्रधानवर्ग ' ही कहेंगे। [क्रमशः]

यदि आप जानना चाहते हैं कि—

(१) प्राचीन भारतकी राज्यव्यवस्था कैसी थी ?

(२) उस समयकी समाजव्यवस्था कैसी थी ?

(३) उस समयकी अर्थव्यवस्था कैसी थी ?

तो अवश्य पढिये—

यदि आप राजनीतिज्ञ हैं, तो " राज्यव्यवस्था " का अध्ययन आपको अवश्य करना चाहिए।

यदि आप समाजसुधारक हैं तो " समाजव्यवस्था " आपको अवश्य देखनी चाहिए।

यदि आप अर्थशास्त्री हैं तो " अर्थव्यवस्था " पर अपनी नजर अवश्य रखनी पडेगी।

और यदि आप अधिकारी हैं तो " प्रजाव्यवस्था " पर आपको ध्यान रखना पडेगा।

पर ये समस्यायें अब आपके लिए समस्यायें ही नहीं रह गई हैं। क्योंकि इन सबका समाधान आपको—

चाणक्य सूत्राणि

में मिल सकता है। सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री रामावतारजी विद्याभास्कर की सुबोध एवं सरल हिन्दी टीकासे १९० पृष्ठसंख्यावाले इस महान् और अमूल्य ग्रंथकी कीमत सिर्फ १२) (डा. व्य. पृथक) है। शीघ्रता कीजिए। आज ही मंगवाए।

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल, पोस्ट- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ', पारडी [जि. बलसाड]

हमारी संस्था एक स. २१ सन् १८६० ई. संख्या ४६३ पर रजि० है। नाम

संस्था जीवनप्राकृतिक चिकित्सालय

प्राकृतिक चिकित्सामें नई क्रांतिका शुभ संदेश

लेखक एवं प्रकाशक— श्री भरतसिंह वैद्य, प्राकृतिक चिकित्सक सी० ३४१, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली। पृष्ठ २५४, मूल्य रु. ३.००

"प्रस्तुत पुस्तकमें पंचमहाभूतोंके आधार पर रोग निवारणकी विधि और स्वस्थ रहनेके उपायों पर प्रकाश डाला गया है। आयुर्वेद तथा प्राकृतिक चिकित्साके अपने ज्ञान और अनुभवको लेखकने इतने सरल और सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है कि एक साधारण पाठक भी उसको पढकर लाभ उठा सकता है। स्वास्थ्य और सदाचार सम्बन्धी वैदिक मन्त्र और उनके भावार्थ देकर सृष्टिविज्ञानकी व्याख्या की गई है। शरीरकी रचना और उसके विविध अङ्गोंकी क्रियाओंका वर्णन करके रोगोंके निदान एवं उपचारके तरीके बताए गए हैं। जिन रोगियोंने इस चिकित्सा प्रणालीको अपनाकर अपने असाध्य एवं जीर्ण रोगोंसे मुक्ति पाई, उनका विवरण पढनेसे पुस्तककी प्रमाणिकता सिद्ध होती है। लेखककी मान्यता है कि प्रायः सभी रोग मिट्टीके प्रयोगसे दूर किए जा सकते हैं। स्वास्थ्य और उपचारमें दिलचस्पी रखनेवाले पाठक इस उपयोगी पुस्तकका स्वागत करेंगे, ऐसी आशा है।"

११-३-६२ दैनिक हिन्दुस्तान, नई देहली

मैंने सन् १९२१ ई. से डा. लुई कोहनीकी प्रणाली व अन्य प्राकृतिक चिकित्सा प्रणालियोंका अध्ययन आरम्भ किया, सन् १९३२ ई. तक रोगियों पर भी परीक्षण करता रहा, सन् १९३३ ई. से मैंने आयुर्वेदिक औषधालय मेरठ शहरमें खोल दिया, इसे २५ वर्ष तक अन्य स्थानोंमें भी चलाया। साथमें कभी कभी प्राकृतिक चिकित्साके प्रयोग भी करता रहा, इसके साथ पंचमहाभूत विज्ञानके अनुसंधानके लिये महर्षि दयानन्द सरस्वतीजीका वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका व यजुर्वेदभाष्यको व अन्य दर्शनोंसे प्रमाण संग्रहकरके वानप्रस्थ समान जीवन व्यतीत करनेका संकल्प लिया अर्थात् सन् १९५८ में औषधालय बिलकुल बन्द कर दिया और जुलाई १९५८ में स्वर्गीय महात्मा गांधीजीकी निसर्गोपचारकी नियमावली उरुलीकाचन (पूना) से मंगाकर ग्रामीण जनताको चिकित्सामें आत्मनिर्भर बनानेके उद्देश्यको पाकर मिट्टीकी पट्टी द्वारा सरल-सूक्ष्म सिद्धांत आरम्भ किया। जो पांच वर्षतक सैंकडों रोगियोंपर शहरों-कस्बों-ग्रामोंमें निरीक्षण-परीक्षण-चिकित्सा द्वारा सभी रोगोंपर एक समान लाभकारी सिद्ध हुआ। इसी सिद्धांतसे टबस्नान-एनिमा, निराहार उपवास अन्य उपकरणकी जरूरत समाप्त हो गई है। और शरीरकी रचनाके मूलाधार चार स्तम्भ निश्चय हुए अन्न-शुक्र (वीर्य) श्रम-निद्रा इनकी शुद्धि पुष्टिसे शरीर व आत्माके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इस ज्ञानको लिपिबद्ध करनेके लिये दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रथम जीवनसंदेश (प्राणचिकित्सा) जिसका मूल्य ३.०० है। दूसरी पंचमहाभूत विज्ञान पृष्ठ १६६ मूल्य १.०० डाकव्यय पृथक् है। चिकित्सालय पर निःशुल्क चिकित्सा होती है। विद्यार्थियोंके लिये शिक्षण, परीक्षण, चिकित्साविधि सिखानेका प्रबन्ध करनेका निश्चय है।

पता नं. १ भरतसिंह वैद्य, मंत्री-'जीवन प्राकृतिक चिकित्सालय' गालिबपुर, डा. खास, जि. मुजफ्फरनगर

पता नं. २ डा. रामचन्द्रसिंहजी, C 341, सरोजनी नगर, नई देहली

आध्यात्मिकताके आधार

(लेखक— श्री अरविन्द)

★

वैदिक यज्ञके अंतर्गत— एक क्षणके लिये देवता और मन्त्रको छोड़ दें तो— तीन अंग हैं, हवि देनेवाले, हवि और हविके फल। यदि 'यज्ञ' एक कर्म है जो कि देवताओंको समर्पित किया जाता है तो 'यजमान' को, हवि देनेवालेको मैं यह समझे बिना नहीं रह सकता कि वह उस कर्मका कर्ता है। 'यज्ञ' का अभिप्राय है कर्म, वे कर्म आन्तरिक हों या बाह्य, इसलिये 'यजमान' होना चाहिये आत्मा अथवा वह व्यक्तित्व जो कि कर्ता है। परन्तु साथ ही यज्ञ-संचालक, पुरोहित भी होते थे, होता, ऋत्विज, ब्रह्मा अध्वर्यु आदि। इस प्रतीकवादमें उनका कौनसा भाग था? क्योंकि एकबार यदि यज्ञके लिये हम प्रतीकात्मक अभिप्रायकी कल्पना कर लेते है तो इस यज्ञ-विधिके प्रत्येक अंगका हमें प्रतीकात्मक मूल्य कल्पित करना चाहिये। मैंने पाया कि देवताओंके विषयमें सतत रूपसे यह कहा गया है कि वे यज्ञके पुरोहित हैं और बहुतसे संदर्भोंमें तो प्रकट रूपसे यह एक अमानुषी सत्ता या शक्ति है जो कि यज्ञका अधिष्ठान करती है।

मैंने यह भी देखा कि सारे वेदमें हमारे व्यक्तित्वको बनानेवाले तत्त्व स्वयं सतत रूपसे सजीव शरीरधारी मानकर वर्णन किये गए हैं। मुझे इस नियमको केवल व्यत्यासे प्रयुक्त करना था और यह कल्पना करनी थी कि बाह्य अलंकारमें जो पुरोहितका व्यक्ति है वह आभ्यंतर क्रियाओंमें आलंकारिक रूपसे एक अमानुषी सत्ता या शक्तिको अथवा हमारे व्यक्तित्वके किसी तत्त्वको सूचित करता है। फिर अवशिष्ट रह गया पुरोहित संबंधी भिन्न भिन्न कार्योंके लिये आध्यात्मिक अभिप्राय नियत करना। यहां मैंने पाया कि वेद स्वयं अपने भाषासंबंधी निर्देशों और दृढ उक्तियोंके द्वारा मूलसूत्रको पकड़ा रहा है, जैसे कि 'पुरोहित' शब्दका प्रतिनिधिके भावके साथ अपने असमस्त रूपमें, पुरो-हित 'आगे रखा हुआ' इस अर्थमें प्रयुक्त होना और प्रायः इससे अग्निदेवताका संकेत किया जाना, जो मानवतामें उस दिव्य संकल्प या दिव्य शक्तिका प्रतीक है जो यज्ञरूपसे किये जानेवाले सब पवित्र कर्मोंमें क्रियाको ग्रहण करनेवाला होता है।

हवियोंको समझ सकना और भी अधिक कठिन था। चाहे सोम-सुरा भी जिन प्रकरणोंमें इसका वर्णन है उनके द्वारा, अपने वर्णित उपयोग और प्रभावके द्वारा और अपने पर्यायवाची शब्दोंसे मिलनेवाले भाषा विज्ञानसंबंधी निर्देशके द्वारा स्वयं अपनी व्याख्या कर सकती थी, पर यज्ञके घी, 'घृतम्' का क्या अभिप्राय लिया जाना संभव था? और तो भी वेदमें यह शब्द जिस रूपमें प्रयुक्त हुआ है वह इसी पर बल देता था कि इसकी प्रतीकात्मक व्याख्या ही होनी चाहिये।

उदाहरणार्थ, अंतरिक्षसे बूंद रूपमें गिरनेवाले घृतका या इन्द्रके घोड़ोंमेंसे क्षरित होनेवाले अथवा मनसे क्षरित होनेवाले घृतका क्या अर्थ हो सकता था? स्पष्ट ही एक बिलकुल असंगत और व्यर्थकी बात होती, यदि घी अर्थको देनेवाले 'घृत' शब्दका इसके अतिरिक्त कोई और अभिप्राय होता कि यह किसी बातके लिये एक ऐसा प्रतीक है जिसका कि प्रयोग बहुत शिथिलताके साथ किया गया है, यहांतक कि विचारकको बहुधा अपने मनमें इसके बाह्य अर्थको सर्वांशमें या आंशिक रूपसे अलग रख देना चाहिये। निःसंदेह यह भी सम्भव था कि आसानीके साथ इन शब्दोंके अर्थको प्रसंगानुसार बदल दिया जाय, 'घृत' को कहीं घी और कहीं पानीके अर्थमें ले लिया जाय तथा 'मनस्' का अर्थ कहीं मन और कहीं अन्न या अपूप कर लिया जाय।

परन्तु मुझे पता लगा कि 'घृत' सतत रूपसे विचार या मनके साथ प्रयुक्त हुआ है, कि वेदमें 'गौ' मनका प्रतीक है, कि 'इन्द्र' प्रकाशयुक्त मनोवृत्तिका प्रतिनिधि है और उसके दो घोडे उस मनोवृत्तिकी द्विविध शक्तियां हैं और मैंने यहांतक देखा कि वेद कहीं कहीं साफ तौरसे बुद्धि (धिषणा) की शोधित घृतके रूपमें देवोंके लिये हवि देनेको कहता है, 'घृतं न पूतं धिषणां' (३-२, १)। 'घृत' शब्दको भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे जो व्याख्याएं की जाती हैं, उनमें भी इसका एक अर्थ अत्यधिक या उष्ण चमक है। इन सब निर्देशोंकी अनुकूलताके आधारपर ही मैंने अनुभव किया कि 'घृत' के प्रतीककी यदि मैं कोई आध्यात्मिक व्याख्या करता हूं, तो मैं ठीक रास्तेपर हूं। और इसी नियम तथा इसी प्रणालीको मैंने यज्ञके दूसरे अंगोंमें भी प्रयुक्त करनेके योग्य पाया।

हविके फल देखनेमें विशुद्ध रूपसे भौतिक प्रतीत होते थे- गौएं, घोडे, सोना, अपत्य, मनुष्य, शारीरिक बल, युद्धमें विजय। यहां कठिनाई और भी दुस्तर हो गयी। पर यह मुझे पहले ही दीख चुका था कि वेदका 'गौ' बहुत ही पहेलीदार प्राणी है, यह किसी पार्थिव गोशालासे नहीं आया है। 'गो' शब्दके दोनों अर्थ हैं, गाय और प्रकाश और कुछ एक संदर्भोंमें तो, चाहे हम गायके अर्थको अपने सामने रखें भी, तो भी स्पष्ट ही इसका अर्थ प्रकाश ही होता था। यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जब कि हम सूर्यकी गौओं— होमर (Homer) कविकी ईलियसकी गौओं— और उषाकी गौओंपर विचार करते हैं।

आध्यात्मिक रूपमें भौतिक प्रकाश ज्ञानके— विशेषकर दिव्य ज्ञानके—प्रतीकके रूपमें अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु यह तो केवल संभावना मात्र थी, इसकी परीक्षा और प्रमाणसे स्थापना कैसे होती? मैंने पाया कि ऐसे संदर्भ आते हैं, जिनमें कि आसपासका सारा ही प्रकरण अध्यात्मपरक है और केवल 'गौ' का प्रतीक ही है जो कि अपने अडियल भौतिक अर्थके साथ बीचमें आकर बाधा डालता है। इन्द्रका आह्वान सुन्दर (पूर्ण) रूपोंके निर्माता 'सुरूपकृत्नु' के तौर पर किया गया है कि वह आकर सोमरसको पिये; उसे पीकर वह आनन्दमें भर जाता है और गौओंको देनेवाला (गोदा) हो जाता है, तब हम उसके समीपतम या चरम सुविचारोंको प्राप्त कर सकते हैं, तब इससे प्रश्न करते हैं और इसका स्पष्ट विवेक हमें हमारे सर्वोच्च कल्याणको प्राप्त कराता है। ×

यह स्पष्ट है कि इस प्रकारके संदर्भोंमें गौएं भौतिक गायें नहीं हो सकतीं, नहीं भौतिक प्रकाशको देनेवाला यह अर्थ प्रकरणमें किसी अभिप्रायको लाता है। कम-से-कम एक उदाहरण मेरे सामने ऐसा आया जिसने मेरे मनमें यह निश्चित रूपसे स्थापित कर दिया कि वहां वैदिक गौ आध्यात्मिक प्रतीक ही है। तब मैंने इसे उन दूसरे संदर्भोंमें प्रयुक्त किया जहां कि 'गौ' शब्द आता था और सर्वदा मैंने यही पाया कि परिणाम यह होता था कि इससे प्रकरणका अर्थ अच्छेसे अच्छा हो जाता था और उसमें अधिक-से-अधिक संभवनीय संगति आ जाती थी।

गाय और घोडा, 'गौ' और 'अश्व' निरन्तर इकट्ठे आते हैं। ऊषाका वर्णन इस रूपमें हुआ है कि वह 'गोमती अश्वावती' है उषा यज्ञकर्ता (यजमान) को घोडे और गौएं देती है। प्राकृतिक उषाको लें, तो 'गोमती' का अर्थ है प्रकाश की किरणोंसे युक्त या प्रकाशकी किरणोंको लाती हुई और यह मानवीय मनमें होनेवाली प्रकाशकी उषाके लिये एक रूपक है। इसलिये 'अश्वावती' विशेषण भी एकमात्र भौतिक घोडोंका निर्देश करनेवाला नहीं हो सकता, साथमें इसका कोई आध्यात्मिक अर्थ भी अवश्य होना चाहिये। वैदिक 'अश्व' का अध्ययन करने पर मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि 'गौ' और 'अश्व' वहां प्रकाश और शक्तिके ज्ञान और बलके दो सहचर विचारोंके प्रतिनिधि हैं जो कि वैदिक और वेदान्तिक मनके लिये सत्ताकी सभी प्रगतियोंके द्विविध या युगलरूप होते थे।

इसलिये यह स्पष्ट हो गया कि वैदिक यज्ञके दो मुख्य फल गौओंकी संपत्ति और घोडोंकी संपत्ति, क्रमशः मानसिक प्रकाशकी समृद्धि और जीवन-शक्तिकी बहुलताके प्रतीक हैं। इससे परिणाम निकला कि वैदिक कर्म (यज्ञ) के इन दो मुख्य फलोंके साथ निरन्तर सम्बद्ध जो दूसरे फल हैं उनकी भी अवश्यमेव आध्यात्मिक व्याख्या हो सकनी चाहिये। अवशिष्ट केवल यह रह गया कि उन सबका ठीक ठीक अभिप्राय नियत किया जाय।

× यह ऋक् मंडल १ सूक्त ४ के आधार पर है। — अनुवादक।

वैदिक प्रतीकवादका एक दूसरा, अत्यावश्यक अंग है लोकोंका संस्थान और देवताओंका व्यापार। लोकोंके प्रतीकवादका सूत्र मुझे 'व्याहृतियों' के वैदिक विचारमें, 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः' इस मंत्रके तीन प्रतीकात्मक शब्दोंमें और चौथी व्याहृति 'महः' का आध्यात्मिक अर्थ रखनेवाले 'ऋतम्' शब्दके साथ जो संबंध है, उसमें मिल गया। ऋषि विश्वके तीन विभागोंका वर्णन करते हैं, पृथिवी, अंतरिक्ष या मध्यस्थान और द्यौ, परन्तु साथ ही एक आध्यात्मिक बड़ा द्यौ (बृहत् द्यौ) भी है, जिसे विस्तृत लोक (बृहत्) भी कहा गया है और कहीं-कहीं जिसे महान् जल, 'महो अर्णः' के रूपमें भी वर्णित किया है।

फिर इस 'बृहत्' का 'ऋतं बृहत्' इस रूपमें अथवा 'सत्य ऋतं बृहत्+ इन तीन शब्दोंकी परिभाषाके रूपमें वर्णन मिलता है और क्योंकि तीन लोक प्रारम्भिक तीन व्याहृतियोंसे सूचित होते हैं, इसलिये 'बृहत्' के और 'ऋत्' के इस चौथे लोकका सम्बन्ध उपनिषदोंमें उल्लिखित चौथी व्याहृति 'महः' से होना चाहिये। पौराणिक सूत्रमें ये चार तीन अन्य- 'जनः', 'तपः', 'सत्यं' से मिल कर पूर्ण होते हैं, जो तीन हिन्दु विश्व विज्ञानके तीन उच्च लोक हैं। वेदमें भी हमें तीन सर्वोच्च लोकोंका वर्णन मिलता है, यद्यपि उनके नाम नहीं दिये गये हैं।

परन्तु वेदांतिक और पौराणिक सम्प्रदायमें ये सात लोक सात आध्यात्मिक तत्वों या सत्ताके सात रूपों- सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मनः, प्राण, अन्नको सूचित करते हैं। अब यह मध्यका लोक विज्ञान, जो कि 'महः' का लोक है, महान् लोक है, वस्तुओंका सत्य है और यह तथा वैदिक 'ऋतम्' जो कि 'बृहत्' का लोक है, दोनों एक ही हैं, और जहां कि पौराणिक सम्प्रदायमें 'महः' के बाद यदि नीचेसे ऊपरका क्रम ले तो, 'जनः' (जो कि आनन्द का, दिव्य सुखका लोक है) आता है, वहां वेदमें भी 'ऋतम्' अर्थात् 'सत्य ऊपरकी ओर 'मयः' तक, सुख तकसे जाता है। इसलिये हम उचित रूपसे इस निश्चय पर पहुँच सकते हैं कि (पौराणिक तथा वैदिक) ये दोनों सम्प्रदाय इस विषयमें एक हैं और दोनोंका आधार इस एक विचार पर है कि अन्दर अपनी चेतनाके सात तत्त्व हैं जो कि बाहर सात लोकोंके रूपमें अपने आपको प्रकट करते हैं। इस सिद्धान्त पर मैं वैदिक लोकोंको तदनुसारी चेतनाके आध्यात्मिक स्तरोंके साथ एकता स्थापित कर सका और तब सारा ही वैदिक संस्थान मेरे मनमें स्पष्ट हो गया।

जब इतना सिद्ध हो चुका, तो जो बाकी था वह स्वभावतः और अनिवार्य रूपसे होने लगा। मैं यह पहले ही देख चुका था कि वैदिक ऋषियोंका केन्द्रीभूत विचार था कि मिथ्याका सत्यसे, विभक्त तथा सीमाबद्ध जीवनका सम्पूर्णता तथा असीमतासे परिवर्तन करके, मानवीय आत्माको मृत्युकी अवस्थासे निकाल कर अमरताकी अवस्था तक पहुँचा देना। मृत्यु है मन और प्राण सहित शरीरकी मर्त्य अवस्था, अमरता है असीम सत्ता, चेतना और आनन्दकी अवस्था। मनुष्य द्यौ और पृथ्वी, मन और शरीर इन दो लोकों, 'रोदसी' से ऊपर उठ कर सत्यकी असीमतासे 'महः' में और इस प्रकार दिव्य सुखमें पहुँच जाता है। यही वह 'महा पथ' है जिसे ऋषियान खोजा था।

देवोंके विषयमें मैंने यह वर्णन पाया कि वे प्रकाशसे उत्पन्न हुए हैं, 'अदिति' के-अनन्तताके-पुत्र हैं और बिना अपवादके उनका इस प्रकार वर्णन आता है कि वे मनुष्यकी उन्नति करते हैं, उसे प्रकाश देते हैं, उस पर पूर्ण जलोंकी, द्यौके ऐश्वर्यकी वर्षा करते हैं, उसके अन्दर सत्यकी वृद्धि करते हैं, दिव्य लोकोंका निर्माण करते हैं, सब आक्रमणोंसे बचा कर उसे महान् लक्ष्यतक, अखण्ड समृद्धितक, पूर्ण सुखतक पहुंचाते हैं। उनके पृथक्-पृथक् व्यापार उनकी क्रियाओंसे, उनके विशेषणोंसे, उनके सम्बद्ध कथानकोंका जो अध्यात्मपरक आशय होता था उससे, उपनिषदों और पुराणोंके निर्देशोंसे तथा ग्रीक गाथाओं द्वारा कभी-कभी पड़नेवाले आंशिक प्रकाशोंसे निकल आते थे।

दूसरी ओर दैत्य जो कि अनेक विरोधी हैं, सबके सब विभाग एवं सीमाकी शक्तियां हैं, वे जैसा कि अनेक नाम सूचित करते हैं, आच्छादक हैं, विदारक हैं, हड़प लेनेवाले हैं, घेरनेवाले हैं, द्वैध पैदा करनेवाले हैं, प्रतिबन्धक हैं, वे ऐसी शक्तियां हैं जो कि जीवनकी स्वतंत्र तथा एकीभूत स्वतंत्रताके विरुद्ध कार्य करती हैं। ये वृत्र, पणि, अत्रि, राक्षस, शम्बर, बल, नमुचि कोई द्राविड़ राजा और देवता नहीं हैं, जैसा कि आधुनिक मन अपनी अतिको पहुंची हुई

+ सत्यम् बृहत् ऋतम्। अथर्व १२-१-१

*

ऐतिहासिक दृष्टिसे चाहता है कि वे हों; वे एक अधिक प्राचीनभावके द्योतक हैं, जो कि धार्मिक तथा नैतिक ही विचारों–कृत्योंमें मुख्यतया व्याप्त रहनेवाले हमारे पूर्व पितरोंके लिये अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त था।

वे उच्चतर भद्रकी तथा निम्नतर इच्छाकी शक्तियोंके बीचमें होनेवाले संघर्षके द्योतक हैं और ऋग्वेदका यह विचार तथा पुण्य और पापका इसी प्रकारका विरोध जो कि अपेक्षाकृत कम आध्यात्मिक सूक्ष्मताके साथ तथा अधिक नैतिक स्पष्टताके साथ पारसियोंके– हमारे इन प्राचीन पडोसियों और सजातीय बंधुओंके– धर्मशास्त्रोंमें दूसरे प्रकारसे प्रकट किया गया है, संभवतः एक ही आर्य संस्कृतिके मौलिक शिक्षणसे प्रादुर्भूत हुआ था।

अन्तमें मैंने देखा कि वेदका नियमित प्रतीकवाद बढ कर कथानकोंमें भी पहुंचा हुआ है जिनमें कि देवोंका तथा उन प्राचीन ऋषियोंके साथ सम्बन्धका वर्णन है। इन गाथाओंमेंसे यदि सबका नहीं तो कुछका मूल तो, इसकी पूर्ण सम्भावना है कि, प्रकृतिवादी तथा नक्षत्र विद्या सम्बन्धी रहा हो, पर यदि ऐसा रहा हो तो उनके प्रारम्भिक अर्थकी आध्यात्मिक प्रतीकवादके द्वारा पूर्ति की गयी थी। एकबार यदि वैदिक प्रतीकोंका अभिप्राय ज्ञात हो जाय, तो इन कथानकोंका आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट तथा अनिवार्य हो जाता है।

वेदका प्रत्येक तत्त्व उसके दूसरे प्रत्येक तत्त्वके साथ अपृथक्करणीय रूपसे गुंथा हुआ है और इन रचनाओंका स्वरूप ही हमें इसके लिये बाध्य करता है कि हमने एकबार व्याख्याके जिस नियमको स्वीकार कर लिया है उसे हम अधिकसे अधिक युक्तिसंगत दूरीतक ले जाय। उनकी सामग्रियां बडी चतुराईके साथ दृढ हाथोंके द्वारा मिला कर ठीक की गयी हैं और उन पर हमारे कार्य करनेमें यदि कोई असंगति बर्ती जाती है तो उससे उनके अभिप्रायका और उनकी सुसम्बद्ध विचार–शृंखलाका सारा ताना–बाना ही टूट जाता है।

इस प्रकार वेद, मानो अपनी प्राचीन ऋचाओंमेंसे अपने आपको प्रकट करता हुआ, मेरे मनके सामने इस रूपमें निकल आया कि यह साराका सारा ही एक महान् और प्राचीन धर्मकी, जो कि पहिलेसे ही एक गम्भीर आध्यात्मिक शिक्षणसे सुसज्जित था, धर्मपुस्तक है, ऐसी धर्मपुस्तक नहीं जो कि गडबड विचारोंसे भरी हो या उसकी प्रतिपाद्य सामग्री आदिम हो, यह भी नहीं कि वह कोई परस्पर विरुद्ध तथा जंगली तत्त्वोंकी खिचडी हो, बल्कि ऐसी धर्मपुस्तक है जो अपने लक्ष्यमें और अपने अभिप्रायमें पूर्ण है तथा अपने आपसे अभिज्ञ है, यह अवश्य है कि यह एक दूसरे और भौतिक अर्थके आवरणसे ढकी हुई है, जो आवरण कि कहीं घना और कहीं स्पष्ट है। परन्तु तो भी यह क्षणभरके लिये भी अपने अन्य आध्यात्मिक लक्ष्य तथा प्रवृत्तिकी दृष्टिको ओझल नहीं होने देती।

आवश्यक सूचना

अपने सभी सहयोगी केन्द्रव्यवस्थापकोंको सूचित करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि राजस्थान–सरकारने अपने हायर सेकेण्डरी स्कूलोंमें संस्कृत पढानेके लिए हमारी परीक्षाओंको मान्यता प्रदान कर दी है। तदनुसार हमारे यहांसे साहित्यरत्न एवं साहित्याचार्य परीक्षामें उत्तीर्ण पदवीधारी स्नातक राजस्थानके हायर सेकेण्डरी स्कूलोंमें क्रमशः संस्कृतके टीचर एवं सीनियर टीचरके पदों पर नियुक्त हो सकेंगे।

इसके साथ ही यह भी सूचित किया जाता है कि अगले वर्ष अर्थात् १९६५ से साहित्यिक परीक्षाएं नवीन पाठ्यक्रमके अनुसार ली जाएंगी। अतः पुराना पाठ्यक्रम इस सत्रके बाद रद्द समझना चाहिए। जिन केन्द्र व्यवस्थापकोंके पास नवीन पाठ्यक्रम न पहुंचे हों तो कृपया वे पत्र डाल कर नवीन पाठ्यक्रम मंगवा लें। तथा सभी परीक्षार्थियोंको भी इसकी सूचना देनेकी कृपा करें।

परीक्षामन्त्री

स्वाध्याय–मण्डल, पारडी

देवकल्प पं. नेहरू

(लेखक— श्री डॉ. वासुदेवशरण, काशी विश्वविद्यालय)

प्राचीन परिभाषामें देवता उसे कहते हैं, जो अमर हो अर्थात् प्राणात्मक स्फूर्तिका केन्द्र हो, जो सत्यात्मक प्रेरणा-युक्त हो और प्रकाशको अपना लक्ष बनाकर कार्यमें प्रवृत्त हो। अमृत, सत्य, ज्योति इन तीन तत्त्वोंसे देवताका स्वरूप बनता है। पंडितजी सदा अपने आपको मानव कहते रहे। वस्तुतः थे भी वे मानव ही। किन्तु वे ऐसे महा-मानव थे, जिनका व्यक्तित्व ऊपरके तीन दिव्य तत्त्वोंसे बना था। उनके प्राणवन्तकर्मोंका लेखा जोखा लिखा जाय तो एक शत-साहस्री संहिता ही बन जायगी। वे कितने कर्म परायण थे उन्होंने कितना सोचा और कितना किया; इसकी कथा अद्भुत है। किसी दिन कोई कुशल जीवन चरित्र-लेखक इसका ब्यौरा प्रस्तुत करेगा।

उनके जीवनमें बुद्धिका सत्त्व सबसे प्रबल था। जिसे न्याय्य समझते थे उसपर आरूढ रहते थे। सत्य और न्याय के कारण ही देश विदेशके मंचों पर उनका पद ऊंचा उठा और उसके साथ ही उन्होंने भारत राष्ट्रके पदको भी ऊंचा उठाया। वे सदा बुद्धिके आलोकसे कार्य करते थे। वे बुद्धि-वादी मानव थे और उनकी यही इच्छा थी कि उनके देश-वासी बुद्धिजीवी बनें और पुराने अंधविश्वासोंसे छुटकारा पावें वे अर्वाचीन विज्ञानके उपासक थे विज्ञानके आदर्शोंको अपने लिए और दूसरोंके लिए भी अनुकरणीय मानते थे। विज्ञान सचमुच ही बुद्धिवादी मानवकी सबसे बडी शक्ति है जो राष्ट्र विज्ञानको मानता है वह बुद्धिके क्षेत्रमें नए नए प्रयोग करता है।

बुद्धिका ही पर्याय प्रज्ञा है। प्रज्ञाको प्राचीन प्राकृत भाषामें पञ्ञा पण्णा एवं पण्डा भी कहते थे। जिसमें पण्ड हो वही पण्डित कहा जाता था। सीधे शब्दोंमें प्रज्ञावादी या बुद्धि-वादी मानवके लिए प्राचीन भारतमें पण्डित शब्द-का प्रचलन हुआ। दैव योगसे नेहरूजीके लिए यह विशेषण सर्वत्र प्रचलित होगया। वे सचमुच प्रज्ञावादी मानव थे। देशके लिए अनेक उत्थान कार्योंका सूत्रपात करके उन्होंने अपने बुद्धिबलका परिचय दिया। विलक्षण बुद्धिबलसे उन्हों-ने ज्ञानविज्ञानकी सैंकडों योजनाओंको सोचा और उनके संबन्धमें कार्यारम्भ कराया। वैज्ञानिक प्रयोगात्मक कार्य करनेवाली, वे संस्थाएँ और शोधमन्दिर, आज उनकी अमर कीर्तिके अमर स्तंभ हैं।

उनका पूरा फल भविष्यमें प्रकट होगा। उनमें कार्य करनेवाले वैज्ञानिकोंका कर्तव्य है कि मनके उत्साह और बुद्धिके बलसे इन प्रयोग शालाओंको तेजस्वी बनायें। कोई एक व्यक्ति कितना भी बडा हो, राष्ट्रका समस्त भार अपने कंधोंपर नहीं उठा सकता, किन्तु वह दृढतासे मार्गदर्शन करा सकता है। वह कर्म शक्तिकी धारा उन्मुक्त कर सकता है। वह प्रजातंत्रके मार्गसे जनतामें प्रेरणा भर सकता है और यही पंडितजी जन्मभर करते रहे। अनेक लोग ऐसे भी थे जो उनके कार्यके वेगसे संतुष्ट नहीं थे। किन्तु यह स्मरणीय है कि वे जिस प्रकारके वैधानिक धरातल पर स्थित थे उसमें अपने सहयोगियोंको और जनताको साथ लेकर चलना आवश्यक था। यहाँतक कि विरोधियोंके लिए भी उनके मनमें स्थान था।

वे जन्मसे संभ्रान्त कुलमें प्रतिपालित हुए थे और अन्त-तक उनका यही स्वभाव रहा। उनका यह गुण अत्यन्त प्रबल था। चाहे जो कुछ हो वे अपनी शालीनतासे विच-लित नहीं किए जा सकते थे। वे क्षमाशील थे। दोषोंके प्रति उग्रदृष्टि उनके लिए कठिन थी। राजनीतिक शासकमें कुछ लोग इसे गुण नहीं मानते। इसे मृदु दण्ड समझ कर लोग उसका पराभव करते हैं और अनुचित लाभ उठाते हैं, अब-

एव राष्ट्र नायकको युक्त दण्ड होना चाहिए, ऐसी प्राचीन नीति है इस विषयमें पंडितजी संभवतः जन्मभर प्रयोग शील ही बने रहे और अन्ततक वे अपने क्षमाशील गुणको छोड नहीं सके। जो एकबार उनसे परिचित हो गया उसके लिए उनके उदार प्रांगणमें स्थान बना रहा और वह उनकी सदाशयता पर भरोसा करता रहा।

पंडितजीको प्राचीन परिभाषामें ' भौम ब्रह्म ' की संज्ञा दी जा सकती है। यह विशेषण राजा पृथुके लिए किसी समय प्रयुक्त किया गया था। जब उन्होंने अपने राज्याभिषेकके समयकी शपथको पूरा करते हुए, भारतभूमिके साथ अपने आपको एक कर दिया था। राष्ट्र ही सच्चा ब्रह्म है और भूमिके तथा जनताके रूपमें वह प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष ब्रह्मकी जो उपासना करता है वही सच्चे अर्थोंमें भौम ब्रह्म है। पंडितजीने अपने प्राणोंकी अपरिमित शक्तिसे भारत राष्ट्रके भौम ब्रह्मकी आराधना की। कोई कुछ भी कहे वे इस बिन्दुसे विचलित नहीं हुए।

पंडितजीका गुणगान करना सरल है, किन्तु ऐसा विशिष्ट मानव पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है। उन्होंने अपनी विलक्षण वाक्-शक्तिसे अनेक देशोंका कल्याण किया। विदेशोंमें जहां जहां अत्याचार और उत्पीडन था उसके विरोधमें उन्होंने अपनी शक्तिका प्रयोग किया। वह हिंसा-बलके रूपमें नहीं किन्तु अहिंसात्मक वाणीके रूपमें थी। इस नवीन युगमें अहिंसाका ऐसा सटीक प्रयोग गांधीजीके अतिरिक्त किसी व्यक्तिमें नहीं देखा गया। उनकी वाक् शक्ति अद्भुत थी और यह कहना असत्य न होगा कि एशिया और अफ्रीकाके अनेक नेताओंको उन्होंने अपनी वाणीका योग देकर मुखरित किया और बल-संपन्न बनाया।

हिन्देशियाकी स्वतंत्रताका बहुत कुछ श्रेय उनकी तेजस्वी वाणीको ही था जिसके द्वारा उन्होंने ऐसा स्वर ऊँचा किया कि अन्यायकी सत्ता त्रस्त हो गई और उस देशको स्वतंत्रता प्राप्त हुई। अफ्रीकामें, मिश्रके उपर जब संकट आया तब भी पंडितजीने अन्यायके विरुद्ध अपना स्वर ऊंचा किया। *अमेरिकाके हब्शी जब कष्टमें पडे पंडितजीने उनके पक्षमें* अपनी वाक् शक्तिका भरपूर प्रयत्न किया। उनके लिए यही पर्याप्त था कि वे अपने सत्य और न्यायके पक्षका समर्थन करें, उनके कथनका क्या परिणाम होगा इससे वे खरी बात कहनेमें झिझकते न थे। वे वर्तमान विश्वके बडे मार्गदर्शक थे। स्वार्थोंके संघर्षमें राजनीतिकी उलझनें बढ जाती हैं और राष्ट्रनेता सत्यको स्वीकार नहीं कर पाते।

यही कारण हुआ कि अनेक बडे और छोटे देश पंडितजीके नेतृत्वको सर्वात्मना स्वीकार न कर सके किन्तु जैसा उनकी मृत्युके उपरान्त सब देशोंकी राजधानियोंमें प्रकट किए गए शोकोंसे सूचित होता है, कि वे सर्वप्रिय थे यदि कुछ विरोधी राष्ट्रोंके नेता भी उनके पथप्रदर्शनसे लाभ उठाते, तो विश्वकी राजनीतिकी बहुतसी ग्रन्थियां सुलझ जातीं। किन्तु संसार गुण और दोषोंसे मिलकर बना है। यहां तम और प्रकाशका तानाबाना बुना हुआ है। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें यही नियम काम करता है।

पंडितजी भारतीय राजनीतिके मंचपर आए और लगभग २० वर्षोंतक अपना कार्य करके चले गए। मानवके लिए यही सन्देश है कि बुद्धिवाद, सत्य, न्याय, पारस्परिक सहानुभूति और संप्रीतिसे कार्य करना चाहिए। ऐसा ज्ञात होता है, मानो वे प्रियदर्शी अशोकके नवावतार हों। जिसने यह अमर सन्देश दिया था कि ' समवाय एव साधु ' अर्थात् मेलजोलका मार्ग ही ठीक है।

卐 卐 卐

सौ वर्षका पंचांग

इस सौ वर्षके पंचांगमें वर्ष, मास, तारीख अन्य देशोंका समयचक्र तथा ज्योतिष्चक्र सभी की गणना उत्तम रीतिसे और बिल्कुल ठीक ठीक की है। यह एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन है। सीमित प्रतियां ही शेष हैं। आफिस, स्कूल, घर और पुस्तकालयोंके लिए अत्यन्त लाभदायक एवं उपयोगी है।

मूल्य ५.०० पांच रुपया, रजिस्ट्री द्वारा ६.००

लिखिए—

कोचीकार एजेन्सी, ८।४८६ टी. डी.
डब्ल्यू गेट, पो. बॉ. नं. १३३. कोचीन-२

गीतानुसार धर्म-अधर्म-विवेक

(लेखक— श्री गंगाप्रभु गर्ग अग्रवाल)

'धर्म' शब्दकी अनेक व्याख्यायें हो सकती हैं। यहां हम एक सबसे सरल व्याख्या पर विचार करते हैं। वह यह है कि धर्म शब्द बहुत स्थानोंपर स्वभाव गुणके अर्थमें बरता जाता है। जैसे चक्षुका धर्म देखना, श्रोत्रका धर्म सुनना इत्यादि। जिस प्रकार अग्निका धर्म जलाना, पानीका धर्म गलाना, हवाका धर्म सुखाना है, उसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रियका स्वभाव प्रत्येक पदार्थका गुण उसका धर्म कहलाता है। इससे आगे बढकर प्रत्येक प्राणीकी प्रकृति भी उसका धर्म कहलाती है। इस प्रकार धर्मका अर्थ केवल धारण करना, ग्रहण करना नीति प्रजाकी रक्षा इत्यादिके नियम आत्म कल्याणकी साधना तथा अनुभवी पुरुषोंकी बांधी हुयी मर्यादा ही नहीं है। किन्तु पूर्व जन्मकृत प्रारब्ध कर्मोंसे बनी हुई प्रकृति अर्थात् स्वभाव या गुण भी है।

इसीलिये प्रारब्ध कर्मोंसे बनी हुई अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलना और धर्म उसके विरुद्ध चलना अधर्म कहलाता है। जैसे प्रत्येक इन्द्रियका अपने स्वभावके अनुसार चलना धर्म और स्वभाव विरुद्ध चलना 'अधर्म' कहलाता है वैसे ही प्राणीका अपनी प्रकृतिके अनुसार चलना धर्म और उसके विरुद्ध चलना अधर्म कहलाता है। फिर जैसे मनुष्यका अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलना धर्म और उसके विरुद्ध चलना 'अधर्म' नाम पाता है। वैसे ही मनुष्यके देहके भीतर जो उनकी प्रकृतिका भी मालिक उसका अपना आप देही है। उस अपने आप (अर्थात्– आत्मा) का भी अपने वास्तविक गुण या स्वभाव अकर्ता अभोक्ता साक्षीके अनुसार चलना धर्म और उसके विरुद्ध चलना अधर्म कहलाता है।

जब मनुष्यका अपना आप अपने अकर्ता, अभोक्ता और साक्षी स्वभावकी परवाह न करके इन्द्रियों या मनके स्वभावमें आसक्त होकर उनके स्वभावोंको अपना स्वभाव मानकर उनके अनुसार विचरता है, तो इसका नाम अधर्म होता है। और जब इन्द्रियों या मनके स्वभावसे निरासक्त होकर वह केवल अपने अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी स्वभावमें ही विचरता है। तो इसका नाम धर्म होता है। इसी आशयको लेकर भगवान् गीतामें अर्जुनको ऐसा उपदेश देते हैं—

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

अर्थात्– इन्द्रियका इन्द्रियके अर्थ विषयमें रागद्वेष रहता है, यह इन्द्रियका स्वभाव ही है। पुरुषको चाहिये कि वह अपने आपको इस रागद्वेषरूपी स्वभावके वसमें न आने दे। क्योंकि वे रागद्वेष दोनों मनुष्यके उन्नतिके मार्गमें बटमार, डाकू या विघ्न डालनेवाले हैं। और धर्मके इसी आशयको लेकर इसी श्लोकके बाद भगवान् धर्मके विषयमें अर्जुनको ऐसे कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

पराये अच्छे अनुष्ठान किये हुये धर्मकी अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म भी श्रेष्ठ है। निःसन्देह अपने धर्ममें तो मृत्यु भी श्रेष्ठ है परन्तु पराया धर्म भयकारक होता है। इस प्रकार इन्द्रियोंके स्वभावके बसमें न होना बल्कि हो सके तो इन्द्रियोंके स्वभावको नियममें लाकर अपने बसमें रखना अर्थात् उन्हें मर्यादामें बांधना, ये आशय भी धर्म शब्दसे स्पष्ट निकलता है। इसीको गीतामें बहुत स्थानोंपर स्पष्ट किया गया है और महाभारत शां. प. ५९४–५८ में भी इसीको ऐसे स्पष्ट दर्शाया है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानः ॥

अर्थात्– आहार, निद्रा, भय और मैथुनमें सब वस्तुएं पशुओं और मनुष्योंके लिये एक ही समान स्वाभाविक हैं। मनुष्योंमें पशुओंसे अधिक कोई विशेष वस्तु है । जो यह धर्म अर्थात् उक्त स्वाभाविक वृत्तियोंका मर्यादित करना है। इस प्रकार जिस मनुष्यमें इन आहारादि स्वाभाविक वृत्तियोंको मर्यादा व नियममें बांधना रूप धर्म नहीं, ऐसा धर्महीन मनुष्य तो पशुके समान है । इस प्रकार धर्मको चाहे ' धृ ' धातुसे मानिये, चाहे आचार स्वभाव कहिये । चाहे धर्मकी व्याख्या व्यावहारिक नीति, नियम लीजिये, चाहे अनुभवी द्वारा बांधी हुयी मर्यादा लीजिये और चाहे निज प्रकृति व इन्द्रियोंके स्वभावको नियममें लाना लीजिये । तथापि जब धर्म अधर्मका किसी समय संशय उत्पन्न होता है तब उक्त व्याख्याओंमेंसे किसीका उपयोग पूरा काम नहीं देता । तब निर्णयके लिये हमें अवश्य आध्यात्मिक उन्नतिके उद्देश्यकी व्याख्या ही ठीक काम देती है । इसलिये साररूपसे धर्मकी व्याख्या यही है कि जिस काम या उपायसे आध्यात्मिक उन्नति वास्तवमें होती हो, यही कर्तव्य और यही पुण्यरूप वा शुभ कर्म है । और जिससे आत्महानि व अधोगति होती हो वही अधर्म वही कर्तव्य वह पापरूप या अशुभ कर्म है।

' धर्मकी पहचानका साधन ' यद्यपि धर्म वास्तवमें उस विधि विधानको कहते हैं, जिसमें कर्ताकी आध्यात्मिक उन्नति होती हो और अधर्म उसे कहते हैं जिससे अवनति होती हो । तथापि सर्व साधारणके लिये प्रत्येक समय ऐसा जान लेना कि अमुक कर्मसे उन्नति होती है और अमुकसे अवनति, बहुत कठिन है । अस्थिर बुद्धि और आसक्तचित्त अथवा चंचल स्वभाव पुरुष तो धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म उल्टा ही बहुधा देखने लग जाते हैं। जैसे की अर्जुनकी दशा है । इसलिये दूसरे आख्यानमें आत्मा तथा निजधर्मका तत्त्व दर्शाकर और उस तत्त्वानुसार आचरण करनेकी उत्तेजना देते हुये भगवान् अर्जुनको ऐसे स्पष्ट कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति
तदा गतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ १ ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ २ ॥

जबतक तेरी बुद्धि मोह अज्ञान वा आसक्तके दलदलको पार न कर लेगी । तबतक सुनी–सुनाई बातोंसे तेरा चित्त उपरत नहीं हो सकेगा। अर्थात् मनको लगानेवाली सुनने योग्य तथा सुनी हुई बातोंसे तबतक तेरा चित्त निरासक्त नहीं हो सकेगा और जबतक बुद्धि स्थिर और चित्त निरासक्त वा निर्मोह नहीं हो लेते, तबतक धर्मकी पहिचानका होना तेरे लिये असंभव है । इसलिये इन नाना प्रकारकी सुनी हुई बातोंसे घबराई हुई तेरी जो बुद्धि है जब वह इन उन बातोंसे निरासक्त होगी तभी निश्चल, स्थित होकर ध्यानमें अचल स्थित अर्थात् पूर्ण युक्त होगी। तब तू धर्मतत्त्वको पहचान कर उसके अनुसार कर्म या विधिमें युक्त होने लग जायगा । इससे पूर्व नहीं ।

इस प्रकार धर्मतत्त्वके जानने व पहचानने तथा उसके अनुसार आचरण करनेका मुख्य उपाय भगवान्‌ने स्थिर बुद्धि और निरासक्त चित्त ही दर्शाया है । पर जो पुरुष आत्मतत्त्व व धर्मतत्त्वको पूर्ण रूपसे जानना व पहचानना चाहता है और उस पहचानके अनुसार पूर्ण श्रद्धासे अपना आचरण करना चाहता है। उसे पहले स्थिर बुद्धि और निरासक्त चित्तवृत्तिको प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। बिना स्थिर बुद्धि और निरासक्त चित्त हुये धर्म तत्त्व अथवा आत्मतत्त्वकी पहचानका होना असंभव है । और यह स्थिर बुद्धि निरासक्त चित्तसे कर्ममें युक्त हुए बिना आती नहीं । इस लिये गीतामें कर्मयोगका जो उपदेश है वह निरासक्त ग्रहण रूपी है ।

य जु र्वे द

[प्रथम अध्याय]

(लेखक— श्री भगवद्दत्त वेदालङ्कार, एम. ए.)

ओ३म् इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वं स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपंतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ १

तुम्हें अन्न प्राप्तिके लिये तुम्हें ऊर्ज अर्थात बल– प्राप्तिके लिये हे सूर्य रश्मियो (गौओं) मैं तुम्हारा सेवन करता हूं। तुम सब प्राणरूप हो। वह सर्व प्रेरक सविता भगवान् ब्रह्माण्डमें हो रहे यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्मके लिये तुम्हारा प्रकृष्ट रूपसे परस्पर सम्पर्क कराये। हे अहिंसनीय रश्मियो! अन्तरिक्षके अधिपति इन्द्रके लिये यथोचित भागको तुम पूर्ण करो। तुम श्रेष्ठ प्रजनन करनेवाली हो। अतएव सामान्य रोगों तथा यक्ष्मा आदि भयंकर रोगोंसे रहित बनो, चोर तथा पापका शंसन करनेवाली आसुरीशक्तियां तुम पर स्वामित्व न कर सकें। गौओंके स्वामी इस इन्द्रके अधीन तुम संख्यामें बहुत होकर स्थिर रूपमें रहो। वह सविता भगवान् इस अन्तरिक्षके अधिपति इन्द्र यजमानके पशुओंकी रक्षा करे।

पिण्ड अन्न प्राप्तिके लिये और ऊर्ज अर्थात बल-प्राप्तिके लिये हे ऐन्द्रियिक शक्तियो! मैं तुम्हारा सेवन करता हूं। तुम सब प्राणवायु द्वारा सक्रिय होनेसे वायु रूप हो। सर्व प्रेरक वह सविता पिण्डमें चल रहे यज्ञ रूप श्रेष्ठतम कर्मके लिये तुम्हारा पारम्परिक सम्पर्क सुचारु रूपसे कराये। हे अहिंसनीय इन्द्रियो! हृदयरूपी अन्तरिक्षके अधिपति इन्द्रके लिये उसके यथोचित भागको खूब प्रवृद्ध करो। शरीरमें विविध शक्तियोंके प्रजनन करनेवाली तुम सामान्य व्याधियोंसे लेकर यक्ष्मादि राजरोगोंसे निर्मुक्त होओ। चोर व पापका शंसन करनेवाली आसुरीवृत्तियां तुम पर स्वामित्व न कर सकें। गौओंके अधिपति इस इन्द्रके अधीन तुम शक्ति व ज्ञानमें प्रवृद्ध होकर स्थिर रूपमें रहो। वह सबका प्रेरक भगवान इस इन्द्ररूपी यजमानके पशुओंकी रक्षा करे।

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ २ ॥卐

卐 तस्यां पवित्रं करोति यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसो पवित्रमसीति। (श. प. १।७।१।९)
वसोः पवित्रमिति पवित्रमस्यां बध्नाति कुशा त्रिवृद्धा। (का. ४।२।१५, १६)
द्वौ कुशौ कुशात्रयं वा पवित्रमुच्यते त्रिवृद्धै प्राणाः। (सायणाचार्य)
कुशात्रयं– त्रिवृत् प्राण (प्राण, अपान, व्यान) अथोखामादत्ते। (श. प. १।७।१।९) इमे वै लोका उखा। (श. प. ६।५।२।१०)
अन्तरिक्षं मातरिश्वनो घर्मः। (मै. सं. ४।१।६; तै. ब्रा. ३।२।३)
प्राणवायु द्वारा हृदयरूपी अन्तरिक्षमें तेज व गरमी रहती है।

हे त्रिवृत् प्राण (प्राण, अपान, व्यान) तुम जीवात्मा (इन्द्र) के आश्रयस्थान इस शरीर यज्ञ व तद्‌गत रस (पय) को पवित्र करनेवाले हो । हे उखा ! (शरीर–लोक) तुम द्यु और पृथिवी रूप हो। हे हृदय (हृत्व)! तुम प्राणवायु द्वारा प्रदीप्त व प्रवृद्ध हो। उदरादि तीनों लोकोंमें विश्वरूपोंको धारण करनेवाली हो । हे शरीर (उखा) तुम मस्तिष्क रूपी परमधामके अधीन रहकर दृढ बनो । कुटिल न बनो । जिससे इस शरीर–यज्ञके स्वामी इन्द्रमें वक्रता पैदा न होवे [क्योंकि वक्रतासे शरीरकी जीवनी शक्तिका अधोगमन होता है ।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः
पवित्रमसि सहस्रधारम् ।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः
पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥ ३ ॥ •

हे सर्व शरीरव्यापि प्राण ! तुम सैकडों व सहस्रों धाराओंमें प्रवाहित होकर इस शरीर–यज्ञके व तद्‌गत रसके पवित्र करनेवाले हो । हे शरीर–यज्ञ व रस (पय) ! वह सर्व–प्रेरक सविता–देव पवित्र करनेवाली प्राणकी शतधाराओंसे तुम्हें पवित्र करे । सर्वोत्तम रूपमें शुद्ध व पवित्र करनेवाले प्राणों द्वारा तुमने किस गौ अर्थात् ऐन्द्रियिक शक्तिका दोहन किया है ?

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः ।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मि
विष्णो हव्यꣳ रक्ष ॥ ४ ॥

दोहन की गई वह इन्द्रियरूपी प्रथम गौ उदर द्वारा शरीरकी समग्र शक्तियोंके लिये अन्नरसका निर्माण करनेके कारण ' विश्वायु ' नामको धारण करती है । द्वितीय गौ हृदयरूपी अन्तरिक्षमें ' विश्वकर्मा ' नामवाली है । तथा तृतीय गौ मस्तिष्क रूपी द्युलोकमें विश्वज्ञान रूपी अन्नको धारण करनेके कारण ' विश्वधाया ' है। इन्द्रके तुम हव्य भागको मैं सोमसे संयुक्त करता हूं। हे व्यापक यज्ञरूप विष्णु ! तू इस हव्यकी रक्षा कर ।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे
राध्यताम् । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ ५ ॥

• वसूनां पवित्रमसीत्याह । प्राणा वै वसवः । तेषां वा एतद् भागधेयम् । यत्पवित्रं तेभ्य एवैतत्करोति। शतधारं सहस्रधारमित्याह, प्राणेष्वेवायुर्दधाति सर्वत्वाय । त्रिवृद्वै प्राणः । त्रिवृतमेव प्राणं मध्यतो यजमाने दधाति । (तै. ब्रा ३।२।३।३)

वसु प्राण हैं और यह पवित्र उन प्राणोंका ही भाग है। शतधारा व सहस्रधारा रूपमें प्राणोंमें आयुष्यके आधानके लिए है । ये प्राण, अपान और व्यानरूपमें त्रिवृत् प्राण है । इस त्रिवृत् प्राणको शरीरके मध्यमें स्थित यजमानमें रखते हैं।

^ विश्वायुः, विश्वकर्मा और विश्वधाया ये तीन गौयें तीन लोक हैं । शरीरमें उदर, हृदय तथा मस्तिष्क ये तीन गौयें या तीन लोक हैं । इनका दोहन अर्थात् इनको वीर्योंसे परिपूर्ण करना होता है । यही बात निम्न शब्दोंमें कही गई है—
तद् यत् पृच्छति (कामधुक्ष इति) वीर्याण्येवास्वेतद् दधाति, तिस्रो दोग्धि त्रयो वा इमे लोका एभ्य एवैतदेतल्लोकेभ्यः संभरति (श. प. १।७।१।१७)

तै. ब्रा. में कहा है— अमूमिति नाम गृह्णाति । भद्रमेवासां कर्माविष्करोति । सा विश्वायुः । सा विश्वव्यचाः सा विश्वकर्मेत्याह इयं वै विश्वायुः । अन्तरिक्षं विश्वव्यचाः ।असौ विश्वकर्मा इमानेवैताभिर्लोकान् यथापूर्वं दुहे । (तै. ब्रा. ३।२।३।६)

इन लोकोंके दोहनका तात्पर्य ब्राह्मण ग्रंथने यह बताया कि इनके भद्र कर्मोंका आविष्कार करना । शरीरमें उदर, हृदय और मस्तिष्कके जो कल्याणकारी कर्म और शक्तियां हैं, उनको प्रकट करना दोहनका तात्पर्य है ।

एषु वा एतं लोकेषु रसं दधाति । (मै. सं. ४।१।३)

वह रस क्या है ? ' ओषधीर्जग्ध्वाऽपः पीत्वा तत एषः रसः संभवति । ' (श. प. १।७।१।१८) औषधियोंका भक्षण कर और जल पीकर यह रस पैदा होता है । इसी आधार पर मंत्रका अर्थ देखना चाहिए ।

हे व्रतपालक अग्ने मैं व्रत धारण करूंगा। तुम मुझे ऐसा सामर्थ्य प्रदान करो कि जिससे मैं यह व्रत निभा सकूं। वह व्रत यह है कि मैं असत्यका परित्याग कर सत्यको प्राप्त होता हूं।

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ ६ ॥✱

हे शरीर-यज्ञ व रस! तुझे कौन नियुक्त करता है? वह प्रजापति भगवान् तुझे नियुक्त करता है। किस प्रयोजनके लिये नियुक्त करता है? उस प्राजापत्य रूप यज्ञके निमित्त तुझे नियुक्त करता है। हे शरीर-यज्ञ! मैं जीवात्मा तुझे तथा उस प्रजापति भगवान्को यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्मके लिये तथा इस ब्रह्माण्ड यज्ञमें व्याधिके लिये ग्रहण करता हूं।

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥×

इस यज्ञीय अग्निके तापसे मेरे हृदयमें विद्यमान सब राक्षसी भाव भस्म हो गये हैं और अदानशीलता भी भस्म हो गई है। ये राक्षसीभाव व अदानशीलता पूर्णरूपसे दग्ध हो चुकी है अतः अब मैं हृदयरूपी अन्तरिक्षमें ब्रह्मविचार हुए यथेष्ट गमन करता हूँ।

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः। देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥ ८ ॥+

✱ स (अपः) प्रणयति। कस्त्वा युनक्ति... एताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिरनिरुक्तो प्रजापतिः, प्रजापतिर्यज्ञस्तत् प्रजापतिमेवैतद् यज्ञं युनक्ति। (श प १।१।१।१३) 'त्वा' आदि अनिरुक्त व्याहृतियोंसे प्रजापतिका ग्रहण करना है और प्रजापति यज्ञ रूप है। अथः प्रणयनके निम्न प्रयोजन बताये हैं—

(१) प्रथम- सब कुछ प्राप्त हो जाता है। अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तं तत्प्रथमेनैवैतत् कर्मणा सर्वमाप्नोति।

(२) द्वितीय प्रयोजन यह बताया कि जल वज्र है, इनसे यज्ञके विघातक असुरों व राक्षसोंका संहार हो जाता है। ये असुर राक्षस काम क्रोध आदि हैं।

(३) 'श्रद्धा वा आपः' जल श्रद्धा रूप हैं। श्रद्धासे ही ये दिव्य कर्म पूर्ण होते हैं।

(४) ये देवोंके प्रिय धाम हैं 'आपो वै देवानां प्रियं धाम'। (तै. ब्रा. ३।२।४।१,२)

कर्मणे वां वेषाय वां-अथ शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीं चादत्ते।

शरीरमें शूर्प और अग्निहोत्रहवणी निम्न हैं— शूर्प फेफड़े, अग्निहोत्रहवणी —मुखमें।

(श. प. १२।५।२।६,७) में आता है, कि— 'अथास्य सप्तसु प्राणायतनेषु...... मुखेऽग्निहोत्रहवणी...... पार्श्वयोः शूर्पे......

अर्थात् मनुष्य देहके सप्तप्राणायतनोंमें ७ हिरण्यशकल रक्खे जाते हैं। उनमें मुखमें अग्निहोत्रहवणी और दोनों पार्श्वोंमें शूर्प। शूर्प छाजको कहते हैं। हमारे शरीरमें छाजका कार्य तथा छाजके स्वरूपवाले दोनों फेफड़े हैं।

× अथ वाचं यच्छति। वाग् वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इत्यथ प्रतपति।

वाणीका नियमन करता है, क्षोभरहित वाकसे ही यज्ञ ताना जाता है। वाणीका नियमन और मौन ही शूर्प और अग्निहोत्रहवणी अर्थात् वाक् और हृदय आदिका तप है।

यह हृदयस्थली अन्तरिक्ष है और असुर व देव दोनोंकी विहारस्थली है। मंत्रशक्ति व ब्रह्मबलसे इस हृदयरूपी अन्तरिक्षको अभय तथा असुरोंसे रहित किया जासकता है। अतः असुरोंके विनाशके पश्चात् यजमान इस हृदयस्थलीमें यथेष्ट गमन कर सकता है। इसी भावको निम्नशब्दोंमें प्रकट किया गया है—

अन्तरिक्षं वाऽनुरक्षश्चरति.... तद् ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते (श. प. १।१।२।४)

+ अनस् शाकटकर्मकाण्डमें शकट है, यह भी यज्ञका साधन होनेसे यज्ञरूप है। अध्यात्ममें यह शरीर ही शकट व यज्ञ है। कहा भी है— 'यज्ञो वा अनः' (श. प. १।१।२।१७)

हे अग्नि ! तू असुरोंकी विनाशक है। हिंसकोंका नाश कर और जो पाप आदि हमारी हिंसा करनेको उद्यत हैं उन्हें तू विनष्ट कर और जिसका हम नाश करना चाहते हैं उसे भी तू विनष्ट कर।

हे शरीर ! शकट (अनः शकट) तुम इन्द्रियादि देवोंके सर्वोत्तम वाहन हो, अतिशय शुद्ध व पवित्र, अत्यन्त प्रिय, अत्यन्त सेवनीय तथा देवोंके आह्वान करनेवाले हो।

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णुस्त्वाक्रमतामुरु वातायापहतं रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥ ९ ॥×

हे शरीर (अनः) तुम अकुटिल हो सिररूपी हविर्धानको (ज्ञानरूपी हवि द्वारा) दृढ करो। कुटिल मत होओ जिससे कि यह यज्ञपति (जीवात्मा) कुटिल न बने।

हे शरीर ! यह यज्ञरूप विष्णु तेरे द्वारा क्रमण करे, ऊर्ध्वारोहण करे, किसलिये ? गति व ज्ञानके साधक प्राणवायुके विस्तारके लिये। पापादि राक्षस विनष्ट हो गये हैं। अतः अब पांचों ज्ञानेन्द्रियां हवि प्रदान करें। पञ्चभूत या पांचों ऋतुएं हवि प्रदान करें।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि १० +

सवितादेवकी प्रेरणा होनेपर अश्विदेवोंकी बाहुओंसे तथा पूषाके हाथोंसे अग्निके लिये सेवनीय व ग्राह्य ज्ञानको मैं ग्रहण करता हूं। अग्नि और सोमके लिये प्राप्तव्य ज्ञानको मैं ग्रहण करता हूं।

यदनो वा रथं वा (ददाति) शरीरं तेन। (मै. सं. ४।८।३)
यदनो यद् रथं ददाति शरीरायापि तेन स्पृणोति। (काठ. २८।५)
शकटमें ' धू ' जुआ है, तो शरीरमें वह अग्नि है।
' अग्निरेव धूरग्निर्हि वै धूः '। (श. प. १।१।२।९)

× उपर्युक्त मंत्रमें भी अनसकी ही स्तुति है। कहा भी है—
' अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वारित्यन एवैतदुपस्तौति। (श. प. १।१।२।१२)
इस शरीररूपी शकटके दृढ हो जानेके पश्चात् विष्णुका आरोहण होता है, अर्थात् अग्नि और सोम (वीर्य) का विष्णु रूपमें आरोहण होता है। कहा भी है- ' विष्णुस्त्वेत्यारोहणम् ' (का. १।३।१५) आगे विष्णुके आरोहणके लिए प्राणोंको गतियुक्त करें।
प्राणो वै वातस्तद् ब्रह्मणैवैतत् प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते (श. प. १।१।२।१४)
वात शरीरमें प्राण है। ब्रह्म अर्थात् मंत्र बलसे या ब्राह्मी भावनासे भावित हो प्राणोंको गतियुक्त करे, कोई अंग प्राण संचारसे वियुक्त न रहे। क्योंकि- ' यद्वै किं च वातो नाभिवाति, तद्वरुणस्य (मै. सं. ४।१।५) यदि किसी अंगमें प्राण संचार न हो तो वह वरुणकी पकडमें आ जाता है और व्याधियुक्त हो जाता है। प्राणसंचारसे व्याधि विनाश ही ' अपहत रक्षः ' का भाव है। ' उरुवातायेत्याह। अवारुणमेवैतत्करोति (तै ब्रा ३।२।४।५)

+ सविता वै देवानां प्रसविता (श. प. १।१।२।१७) सविताका स्थान मस्तिष्क है, जहांसे नस-नाडियों द्वारा शरीरके अंगोंको प्रेरणा जाती है। ये नस-नाडियां अश्विदेवोंके वाहन हैं। और नस-नाडियोंके अन्तिम सिरे (End organs) पूषाके हाथ हैं, जिनसे की वस्तु व उसके ज्ञानकी पकड होती है। अश्विनौ हि देवानां (रश्मीना अध्वर्यु) ये (End organs) त्वचामें होते हैं, अतः जब त्वचामें विकृति हो जाती है तब पूषा उसे ठीक करता है। इसीलिये शास्त्रोंमें त्वग्दोषका भिषक् पूषाको माना है।
पूषा वै श्लोण्यस्य (त्वग्दोषस्य) भिषक्। (तै. ब्रा. ३।९।१७।२) पूषा जो ज्ञानरूपी अन्न खाता है वह सीधा मस्तिष्कमें पहुंचता है। मुखकी तरह उस ज्ञानरूपी ग्रासका चर्वण नहीं होता। इसी बातको दर्शानेके लिये पूषाको अदन्तक माना है। (कौ. ६।१३, श. प. १।७।४।७, गो. उ. १।२)
इस मन्त्रका विनियोग ' हविरादाते विनियोगः ' हविग्रहणमें है। यह हवि ज्ञानरूपी हवि है। यह ज्ञानरूप हवि सत्यसे ग्रहण करती है। इसीलिये कहा कि— ' सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत् सत्येनैवैतद् गृह्णाति ' (श. प. १।१।२।१७)

मृताय॑ त्वा नारा॑तये॒ स्वर॒भिवि॒रूयेषं॒ दृंह॑न्तां॒ दुर्याः॑ पृथि॒व्यामु॒र्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि । पृथि॒व्यास्त्वा॒ नाभौ॑ सादया॒म्यदि॑त्या उ॒पस्थेऽग्ने॑ ह॒व्यꣳ र॑क्ष ॥ ११ ॥+

अदानशीलता (किसीको न देना) के लिये नहीं, अपितु प्राणिमात्रके कल्याणके लिये मैं आत्मसूर्य व दिव्यज्योति (स्वः) का साक्षात्कार करूं। पृथिवी अर्थात् शरीरके आन्तरिक दिव्य शक्तियोंके घर दृढ व स्थिर बन जावे। तदनन्तर मैं हृदयरूपी विस्तृत अन्तरिक्षमें गमन करूं। हे हवि! मैं तुझे पृथिवी अर्थात् शरीरके केन्द्रमें विद्यमान अदितिकी गोदमें स्थापित करता हूं। हे अग्नि! तू इस हव्यकी रक्षा कर।

प॒वित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॑ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒व उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑ । देवी॑रापो अग्रेगुवो अग्रेपु॒वोऽग्र॑ इ॒मम॒द्य य॒ज्ञं न॑यता॒ग्रे य॒ज्ञप॑तिꣳ सु॒धातुं॑ य॒ज्ञप॑तिं देव॒युव॑म् १२ ॥

हे प्राण और उदान! तुम दोनों पवित्र करनेवाले विष्णु अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी दो साधन हो। मैं सविता देवकी प्रेरणा पा छिद्र व व्यवधान रहित वायु तथा सूर्यरश्मि इन दोनों साधनोंसे इन जलोंको पवित्र करता हूं। हे दिव्य जलो! आगे ही आगे चलते हुए तथा आगे आगे पवित्र करते हुए तुम इस यज्ञको आगे ले चलो। सर्वशक्तिको श्रेष्ठ रूपमें धारण करनेवाले तथा देवोंको चाहनेवाले यज्ञपतिको आगे ले चलो।

+ अथ प्राङ् प्रेक्षते-स्वरिति प्राङीक्षते यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यः। (श. प. १।१।२।२१)
अर्थात् पूर्वमें विद्यमान स्वः का ईक्षण करता है। ब्राह्मण ग्रंथमें स्वः के निम्न अर्थ दिए हैं- यज्ञ, दिवस, देव और सूर्य ये चार अर्थ स्वः के दिए हैं। अध्यात्ममें हमारा विज्ञान सूर्य (बुद्धि) स्वः है और यही यहां पर अभस है, यह सामान्य चक्षुसे प्रच्छन्न होता है, क्योंकि सामान्य चक्षु सदोष होती है। अतः आन्तरिक निर्मल व सूक्ष्म चक्षु ही इसे देखनेमें समर्थ होती है। इसी तथ्यको ब्राह्मणग्रंथमें निम्नशब्दोंमें कहा है—
' परिवृतमिव वा एतदनो भवति तदस्यैतच्चक्षुः पाप्मगृहीतमिव भवति, यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यस्तत् स्वरो वैतदनोऽभि विपश्यति। ' (श. प.)
तै ब्रा ३।२।४।७ में इस प्रकरणको इस रूपमें स्पष्ट किया है।
तमसो वा एषोऽन्तश्चरति यः परीणहि स्वरभिविख्येषं वैश्वानरं ज्योतिरित्याह।
अर्थात् सामान्य मनुष्य अपने शरीररूपी घर (परीणह) में चहुं ओरसे बद्ध होता है (परि-णह बन्धने) और अपने आन्तरिक शरीरमें अन्धकारमें विचरता है, क्योंकि शरीरके आन्तरिक घटकों व उनकी शक्तियोंका मनुष्यको प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, वह प्रार्थना करता है कि मैं आन्तरिक वैश्वानर ज्योति (स्वः) का दर्शन करूं।

卐 ' पवित्रे स्थ इति त्रीन्वा ' (का. २।३।३२), ' न वै द्वे भवतः अयं (प्राणः) वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानुमात्रां, तस्माद् द्वे भवतः। अथोऽपि त्रीणि स्युः व्यानो हि तृतीयः (श प. १।१।३।२, ३)
यह बाह्य प्राण पवित्र कहलाता है, क्योंकि यह अन्तरिक्षस्थ जलोंको पवित्र करता है। यह एक रूपमें होकर अन्तरिक्षमें पवन करता है। परन्तु यही प्राण पुरुषके अन्दर प्रविष्ट हो प्राण और उदान इन दो रूपोंमें विभक्त होकर प्राक् और प्रत्यङ् दिशाओंकी ओर पवन करता रहता है। इसी कारण बाह्य यज्ञमें भी दो कुशाओंका ग्रहण किया जाता है। यदि तीन कुशाओंका ग्रहण करना हो तो वह तृतीय कुशा व्यानका प्रतिनिधित्व करेगी। यह जल वृत्र रूपमें सारे शरीरमें अभिव्याप्त है। इन्द्र इस वृत्रका हनन करता है, तो यह दुर्गन्धितरूपमें सर्वत्र प्रसृत होता रहता है। प्राण, उदान तथा सूर्यकी रश्मियोंमें ये सब पवित्र करनेवाले हैं। सूर्यरश्मियोंका विशिष्ट प्रकारका सेवन आन्तरिक रसोंपर प्रभाव डालता है। इस प्रकार सूर्यरश्मियां बाह्यप्राण हैं, उनका आन्तरिक प्राणोंसे सम्पर्क होता है, यही बात तै. ब्रा. ३।२।५।२०, ३ में कही है—
प्राणा वा आपः। प्राणा वसवः। प्राणाः रश्मयः॥ २॥
प्राणैरेव प्राणान्त्सम्पृणक्ति सावित्रिमर्चा ॥ ३॥

[क्रमशः]

जवाहरलाल—एक कलाकार

(लेखक— डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, एम्. ए., डी. लिट्.)

' ... हमारा युग कुछ और शांत होता तो जवाहरलाल नेहरू एक श्रेष्ठ सर्जक साहित्यकारके रूपमें हमारे सामने आते क्यूँकि उनकी शैली विशिष्ट है और कल्पना सदा जीवंत तथा वेगपूर्ण राजनैतिक जीवनके माध्यमसे उनकी प्रतिभा समर्पित न होती, तो जिन मूल्यवान् ग्रंथोंका निर्माण वे कर पाते उनके वरदानसे वंचित रह जानेका विषाद हमें न होता। ... ' ये शब्द हैं प्रसिद्ध लेखिका पर्लबककके जो अंतरराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त साहित्यकार हैं।

परिस्थितिने जवाहरलालको राजनैतिक पुरुष बनाया और वे तन-मनसे राजनीतिज्ञ बने। जवाहरलालकी मूल प्रकृति आध्यात्मिक थी जो साहित्य, संस्कृति, कला, विज्ञानको जन्म देती है, जो व्यक्तिको कवि और स्वप्नद्रष्टा बनाती है। जवाहरलाल अपनी इसी प्रकृतिके कारण सौंदर्यके उन्मत्त प्रेमी थे। इस सौंदर्यको कितने ही खंडोंमें बांटा जा सकता है- प्रकृति-सौंदर्य, ललना-सौंदर्य, बाल-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य, न मालूम और कितने-कितने।

जवाहरलालको पत्नी-वियोग हुआ। मार्मिक वेदना हुई। काल समय पाकर बडे विषादपर भी विजय प्राप्त करता है। यदि विषाद शाश्वत रहे तो मनुष्यका जीवन कठिन हो जाय। आनंद ही शाश्वत होता है जो अपनी प्रतिष्ठाके लिए आशाका निर्माण कर लेता है। कमला स्वर्गवासिनी बनीं, किंतु स्त्री-जातिके प्रति जो ममत्व, जो आकर्षण, जो स्नेह-सम्मानकी भावनाएँ वे छोड गईं वे जवाहरलालके हृदयमें मृत्यु-पर्यंत बनी रहीं। भारतके राजनैतिक क्षेत्रमें स्त्रियोंका यह उन्नयन जवाहरलालके इसी संस्कारका द्योतक है। जवाहरलालकी एकमात्र संतान इंदिरा प्रियदर्शिनी केवल उनके लिए ही प्रियदर्शिनी नहीं रहीं, वह सारे राष्ट्रकी प्रियदर्शिनी बनीं। पिताके तेजको अपने सौम्य रूपमें प्रदर्शित किया। सूर्यकी प्रचंडता चंद्रकी शीतलतामें परिणत हुई। जवाहरलाल पुत्र-हीन थे। एक पुत्र उत्पन्न हुआ, किंतु वह अकाल ही काल-कवलित हुआ। जवाहरलालके हृदयका वह पुत्र-प्रेम राष्ट्रके लाखों बच्चोंके प्रति प्रेमके रूपमें प्रस्फुटित हुआ और फिर 'चचा नेहरू' तो बनना ही था, वे बने और खूब बने। अपने प्यारसे, दुलारसे लाखों बच्चोंको डुबो दिया। बच्चोंके चचा नेहरू चले गए। जिनकी भृकुटिको देखकर बडे-बडे थर्रा जाते थे उनके नाक-कानको छोटे बच्चे बडी निर्भीकतासे पकड सकते थे। स्वभावका यह नैसर्गिक माधुर्य कलात्मक व्यक्तित्वमें भी उत्पन्न हो सकता है।

कलाके प्रति उनके हार्दिक प्रेमके एक संस्मरणकी चर्चा करना शायद अनुचित नहीं होगा। नया भारतीय संविधान प्रवर्तित हो गया था। राष्ट्रके सामने सार्वजनिक निर्वाचनका प्रश्न था। १९५२ ई. के आरंभमें चुनाव होनेवाला था, अतः १९५१ ई. के उत्तरार्धमें कांग्रेसको सार्वजनिक चुनावके लिए अपना घोषणा-पत्र तैयार करना था। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन अखिल भारतीय कांग्रेसके सभापति थे। मैं भी उनकी कार्य-समितिका एक सदस्य था। बंगलोरमें कार्य-समितिकी बैठक बुलाई गई थी। टंडनजीने चुनाव घोषणपत्रका प्रारूप तैयार करनेका भार जवाहरलालको दिया था। उन्होंने एक प्रारूप तैयार कर समितिके सामने विचार-विमर्शके लिए प्रस्तुत किया।

विचार यह हुआ कि कार्य-समितिके जिन सदस्योंको अपना कुछ सुझाव देना हो वे आज ही अपना विचार लिखकर जवाहरलालको दे दें और फिर कल आवश्यक संशोधन परिवर्धनके साथ प्रारूप पर विचार किया जाय। मेरे मनमें एक कल्पना जगी। हमारा साहित्य, संस्कृति, कला, विज्ञान आज उपेक्षित सा है, क्यों न सुझाव घोषणा-पत्रमें इनकी

चर्चा कर बननेवाली सरकार पर कुछ दायित्व डाला जाय। मैंने इस विचारसे प्रेरित होकर अपना सुझाव लिखकर जवाहरलालको दिया। दूसरे दिन जब प्रारूप परिवर्धित रूपमें विचारार्थ उपस्थित किया गया तो देखा–साहित्य, कला, संगीत, नाट्य, विज्ञान सब कुछ थे और एक नया विषय था–नृत्य, जिसका उल्लेख करना मैं भूल गया था, यह कहना ही सत्य है, क्योंकि संगीतमें गायन, वदन तथा नृत्य–इन तीनोंका समाहित करते हुए भी ऐसा मालूम पड़ता है कि नृत्यके पृथक् तथा स्वतंत्र अस्तित्वको स्वीकार करना ही चाहिए।

जवाहरलाल कला–प्रेमी थे, सहृदय थे। वे इस प्रसंगमें नृत्यको नहीं भूले। उन्होंने उसका स्पष्ट उल्लेख किया। चुनाव घोषणा–पत्रका प्रारूप विचार–विमर्शके बाद स्वीकृत हुआ। फिर उसे प्रकाशित कर उसी आधार पर कांग्रेस चुनाव लड़ी और जीती। केन्द्र तथा राज्योंमें कांग्रेसकी सरकारें बनीं। लगभग दो वर्षोंके बाद किसी प्रसंगमें जवाहरलालसे मिलनेका मुझे अवसर मिला। मैंने चुनाव घोषणा–पत्रकी उन्हें याद दिलाई और कहा कि अब सरकारको साहित्य, संगीत, कला आदिके प्रोत्साहनके लिए कुछ करना चाहिए। उन्होंने बड़ी प्रसन्नमुद्रासे कहा– जी हां मुझे ख्याल है। मैं कुछ जरूर करूंगा। उसके कुछ दिनोंके बाद ही साहित्य–अकादमी, ललित कला अकादमी, नृत्य–नाट्य–संगीत अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट आदि कई अखिल भारतीय संस्थान खोले गए। भारतीय विश्वविद्यालयोंके युवकों तथा युवतियोंको प्रोत्साहित करनेके लिए स्वतंत्रता–दिवसके अवसर पर नई दिल्लीमें नृत्य, नाटक, गानके मेले लगने लगे।

देशके विभिन्न अँचलोंके लोकनृत्य, जो नयी सभ्यतामें असभ्यताकी संज्ञा पाकर उपेक्षित थे, नये जीवनसे अनुप्राणित हो उठे। एक नया उत्साह, एक नयी उमंगकी बाढ़–जैसे आ गई। यह काम, इतना बड़ा काम कौन कर सकता था? वही कर सकता है जिसके हृदयमें कलाके प्रति आस्था है। जवाहरलाल नेता और अभिनेता दोनों थे, दोनोंमें महान्। किसीकी टोपी, किसीकी पोशाक पहनकर फोटोग्राफरके सामने पोज देनेमें अपनी पद–प्रतिष्ठाके कारण कभी संकुचित नहीं हुए। अभिनेता–अभिनेत्रियों, नर्त्तकियोंके साथ मिलकर फोटो खिंचानेमें तनिक भी झिझक नहीं। इसमें भी बाघ मारने जैसी बहादुरी है। दूसरा कोई नेता किसी नर्त्तकीके साथ सार्वजनिक रूपमें खड़ा होनेमें हजार बार झिझकेगा।

जवाहरलालने २१ जून, १९५४ ई. को अपनी एक वसीयत लिखी, जो उनकी मृत्युके बाद ३ जून, १९६४ ई. को प्रकाशित हुई वह वसीयत किसी नेताकी लिखी नहीं हो सकती, वस्तुतः वह वसीयत एक कविकी लिखी हुई है जिसकी प्रत्येक पंक्तिमें काव्य–ही–काव्य है। "मुझे बचपनसे गंगा और यमुनासे लगाव रहा है और जैसे–जैसे मैं बड़ा हुआ, यह लगाव बढ़ता रहा। मैंने मौसमोंके बदलनेके साथ इनके बदलते हुए रंग और रूपको देखा है और कई बार मुझे याद आई उस इतिहासकी, उन परंपराओंकी, पौराणिक गाथाओंकी, उन गीतों तथा कहानियोंकी जो कई युगोंसे उन के साथ जुड़ गई हैं और उनके बहते हुए पानीमें घुल–मिल गई हैं।"

'गंगा तो विशेषकर भारतकी नदी है, जनताकी प्रिय है जिससे लिपटी हुई भारतकी जातीय स्मृतियाँ, उसकी आशाएँ और उसके भय, उसके विजयगान, उसकी विजय और पराजय। गंगा भारतकी प्राचीन सभ्यताओंकी प्रतीक रही है, निशान रही है। सदा बदलती, सदा बहती, फिर वही गंगाकी गंगा! वह मुझे याद दिलाती है हिमालयकी बर्फसे ढकी चोटियोंकी और गहरी घाटियोंकी जिनसे मुझे मुहब्बत रही है और उनके नीचेके उपजाऊ और दूर–दूर तक फैले मैदान जहाँ काम करते मेरी जिंदगी गुजरी है। मैंने सुबहकी रोशनीमें गंगाको मुस्कराते, उछलते, कूदते देखा है और देखा है शामके सायेमें उदास, काली–सी चादर ओढ़े हुए, जाड़ोंमें सिमटी–सी धीरे–धीरे बहती सुंदर धारा और बरसातमें दहाड़ती, गरजती हुई समुद्रकी तरह चौड़ा सीना लिये और सागरको बरबाद करनेकी शक्ति लिये हुए।'

'यही गंगा मेरे लिए निशानी है भारतकी प्राचीनता की, यादगारकी जो बहती आई है वर्त्तमानतक और बहती चली जा रही है भविष्यके महासागरकी ओर। भले ही मैंने पुरानी परंपराओं, रीति और रस्मोंको छोड़ दिया है और मैं चाहता हूँ कि हिंदुस्तान इन सब जंजीरोंको तोड़ दे जिनमें वह जकड़ा है, जो उसको आगे बढ़नेसे रोकती है और जो देशमें रहनेवालोंमें फूट डालती है, जो बेशुमार लोगोंको दबाये रहती है और जो शरीर तथा आत्माके विकासको रोकती है। चाहे यह सब मैं चाहता हूं, फिर भी मैं यह

नहीं चाहता कि मैं अपनेको इन सब पुरानी बातोंसे बिलकुल अलग कर लूँ। + + + मेरी इस आकांक्षाकी पुष्टिके लिए और भारतकी संस्कृतिको श्रद्धांजलि भेंट करनेके लिए मैं यह दरख्वास्त करता हूँ कि मेरे भस्मकी एक मुट्ठी इलाहाबादके पास गंगामें डाल दिया जाय जिससे कि वह उस महासागरमें पहुँचे जो हिंदुस्तानको घेरे हुए है। '

' मेरे भस्मके बाकी हिस्सेका क्या किया जाय? मैं चाहता हूँ कि इसे हवाई जहाजमें ऊपर ले जाकर बिखेर दिया जाय उन खेतोंपर जहाँ भारतके किसान मेहनत करते हैं ताकि वह भारतकी मिट्टीमें मिल जाय और उसीका अंग बन जाय। '

उपर्युक्त वसीयतसे जवाहरलालके संस्कार, मन-प्राण, आकांक्षापर यथेष्ट प्रकाश पडता है। जवाहरलालका धर्म मानवधर्म है, जो वस्तुतः कलाकारोंका धर्म है। उन्होंने अपने भस्मको सुरक्षित रखनेका विरोध किया, किंतु साध्वी कमलाके भस्म को इन २८ वर्षोंतक चुपचाप छिपाये रखा। इसमें कौनसा संस्कार है? साध्वी कमलाका भस्म एक विरही प्रेमीकी निधि है। जीवन-संगिनीको सूक्ष्मरूपसे भी जीवन-संगिनी रखना है। जवाहरलालने लाल गुलाबकी अधखिली कलीको भी विरहिणीके प्रतीकके रूपमें ही ग्रहण किया। जवाहरलालको परिस्थितिने लोकनायक बनाया, किंतु प्रकृतिने उन्हें एक कलाकार ही बनाया था।

गीता – पुरुषार्थबोधिनी

[लेखक— श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर]

' मैंने श्री पं. सातवलेकरजी की लिखी हुई श्रीमद्भगवद्गीता पर ' पुरुषार्थ-बोधिनी ' टीका पढी और मैं उससे अत्यन्त प्रभावित हुआ। यह टीका पढकर मैं समझ सका कि गीता केवल आध्यात्मग्रंथ ही नहीं है, अपितु वह इस लोकको बनानेवाला ग्रंथ भी है। वह संसार छोडकर और वीतराग बनकर जंगलमें जानेका उपदेश नहीं देती, अपितु संसारमें ही रहकर पग-पग पर आनेवाले संकटोंमें किस प्रकार टक्कर ली जाए, इसका मार्ग बताती है। मेरी यह निश्चित धारणा है कि यह प्रत्येक संस्था व कालेजोंके द्वारा एक संग्रह करने योग्य ग्रंथ है। '

—महात्मागांधी

' यह गीता पर एक अनोखी टीका है, जिसने गीताके एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर, जो आजतक विद्वानोंकी दृष्टिसे ओझल था, भरपूर प्रकाश डाला है। मुझे यह पढकर अत्यन्त आनन्द हुआ। मुझे आशा है कि पाठक इसे हृदयसे अपनायेंगे। ' —चि. द्वा. देशमुख, उपकुलपति- दिल्ली विश्वविद्यालय

यह टीका अपने ढंगकी एक ही है। जिस किसीने भी इसे पढा, मुक्तकण्ठसे इसे सराहा। सभी उच्च कोटीके विद्वानोंने इसकी बडी प्रशंसा की। इसकी मांग अत्यधिक है, अतः पाठकोंके आग्रह पर हमें इसकी चौथी आवृत्ति निकालनी पडी। यह ग्रंथ हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी तीन भाषाओंमें मिल सकती है, आप भी शीघ्रता कीजिए। शिक्षण-संस्थाओं तथा अन्य संस्थाओंको तथा व्यापारियोंको भी उचित कमीशन पर ये पुस्तकें मिल सकेंगी।

पृष्ठ संख्या ८५०] [मूल्य २०) रुपये (डा. व्य. पृथक्)

पुस्तक तथा विस्तृत सूचीपत्रके लिए लिखें—

व्यवस्थापक- स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट- ' स्वाध्याय मण्डल (पारडी),' पारडी [जि. बलसाड] (गुजरात)

अवश्य पढिये] [अवश्य पढिये

संस्कृत सीखनेका सरलतम उपाय

' प्रत्येक राष्ट्रवादीको संस्कृतका अध्ययन करना चाहिए। इससे प्रान्तीय भाषाओंका अध्ययन भी सुगमतर हो सकता है। किसी भी भारतीय बालक और बालिकाको संस्कृत ज्ञानसे रहित नहीं होना चाहिए।'

—महात्मा गांधी

\+ + + +

' यदि मुझसे पूछा जाए कि भारतकी सबसे विशाल सम्पत्ति क्या है? तो मैं निःसंकोच उत्तर दूंगा कि वह सम्पत्ति संस्कृत भाषा और साहित्य एवं उसके भीतर जमा सारी पूंजी ही है। यह एक उत्तम उत्तराधिकार है और जब तक यह कायम है तथा हमारे जीवनको कायम किए है, तबतक भारतकी आधारभूत प्रतिभा भी अक्षुण्ण रहेगी। अतीतकी सम्पत्ति होते हुए भी संस्कृत एक जीवित परम्परा है।'

—पं. जवाहरलाल नेहरू

\+ + + +

' हमारी संस्कृतिका स्रोत इसी संस्कृत भाषासे निकला है। हम जानते हैं कि आज भी हम इस संसारमें इसीके कारण जीवित हैं और भविष्यमें भी जीवित रहेंगे।'

—स्व. डॉ. राजेन्द्रप्रसाद

\+ + + +

इन महापुरुषोंकी वाणी इस बातकी साक्षी है कि संस्कृतभाषा भारतका सर्वस्व है। आप भी सच्चे भारतीय हैं अतः हमें पूर्ण विश्वास है कि आप भी निश्चयसे संस्कृतभाषा सीखना चाहेंगे।

क्या कहा? संस्कृत बहुत कठिन भाषा है। इसका व्याकरण बहुत कठिन है। इसको पढते हुए सिर दुःखने लगता है।

ठीक है, ठीक है, मालूम पडता है कि आपने अभीतक ऐसी ही पुस्तकें देखी हैं, जो सिरमें दर्द पैदा कर देती हैं। और आप समझते हैं कि संस्कृतभाषा बहुत कठिन है। मालूम पडता है कि आपने अभीतक श्री पं. सातवलेकर कृत '**संस्कृत-पाठ-माला**' नहीं देखी है।

आइए, आज आपका इस पुस्तकसे परिचय करायें—

१ इस पुस्तकमें छोटे छोटे और सरल वाक्य हैं।

२ इसमें व्याकरण पर बिल्कुल जोर नहीं दिया गया है।

३ इसमें अनुवाद करनेका ढंग बडी सरलतासे बताया गया है।

४ इसमें रामायण और महाभारतकी अनेक कथाओंको सरल संस्कृतके द्वारा बताया गया है। इसलिए कहानियोंमें रस लेनेवाले बच्चे भी इस पुस्तकको बडे चावसे पढ सकते हैं।

५ महात्मा गांधी और सरदार पटेल जैसे महापुरुषोंने भी इस पुस्तककी प्रशंसा की है और उन्होंने अपनी वृद्धावस्थामें भी इन पुस्तकोंके द्वारा संस्कृत सीखी थी।

६ जी हां, लेखककी यह घोषणा है कि यदि आप रोज एक घन्टा इस पुस्तकका अध्ययन करें, तो आप केवल एक सौ घण्टोंमें ही इतनी संस्कृत सीख सकते हैं कि आप रामायण और महाभारत सरलतासे समझने लगेंगे।

७ यह पुस्तक अबतक १३ बार छप चुकी है, और हर बार हमें यह पुस्तक ४–५ हजार छापनी पडती है। चारों ओरसे इस पुस्तककी मांग आती है। क्या कहा? इस पुस्तकका एक ही भाग है? जी नहीं, इस पुस्तकके १८ भाग हैं। तो तो इनकी कीमत ही बहुत ज्यादा होगी? जी बिल्कुल नहीं, एक भागकी कीमत सिर्फ [illegible] न. पै (डा. व्य. अलग) है। कहिए, है न पुस्तक बहुत उपयोगी? तो फिर आज ही एक पत्र डालकर यह पुस्तक मंगवाइए अवश्य ही मंगवाइए। लिखिए—

मंत्री— स्वाध्याय मंडल
पोस्ट– ' स्वाध्याय मंडल (पारडी) '
पारडी [जि. बलसाड] (गुजरात)

Regd. No. G. 71

मानवजीवनके रहस्योंसे भरपूर

एक संग्रहणीय खजाना

जी हां, मानवशरीरकी रचना विधाताके कौशल्यकी चरम सीमा है। शरीर स्वयंमें एक रहस्यमय विश्व है, जिसके कई रहस्योंका स्फोट आजतक भी नहीं हो पाया है।

मानवशरीरविज्ञानके विज्ञोंने इस शरीरका जितना विश्लेषण आज किया है, उससे कहीं अधिक और यथार्थ विश्लेषण हमारे प्राचीन ऋषिमहर्षियोंने इस शरीरका किया था। उन्होंने आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन भागोंमें मानव शरीरके सारे रहस्योंका उद्घाटन किया है। इन सारे रहस्योंको यदि आप जानना चाहते है, तो अवश्य पढिए श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर लिखित अथर्ववेदके सुबोध भाष्यके पांचों भाग। वे पांच इसप्रकार हैं

(१) ब्रह्मविद्या प्रकरण। (२) मातृभूमि और स्वराज्यशासन। (३) गृहस्थाश्रम।
(४) आरोग्य और दीर्घायुष्य। (५) मेधाजनन, संगठन और विजय।

इनमें प्रथम तीन भाग बिक्रीके लिए तय्यार है, अन्तिम दो भाग अभी प्रेसमें है। उनके भी शीघ्र छपनेकी आशा है।

प्रथम भागमें— ' ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग, पापकी सामर्थ्यका आत्मिकशक्तिसे प्रतिकार, ब्रह्म अध्यात्मविद्या, पूजनीय ईश्वर, आत्मशक्ति, ब्रह्माण्ड देह, आत्मज्योति, मुक्तिका मार्ग, मुक्तिका अधिकारी, ' आदि कई आत्मिकज्ञानके रहस्योंका संग्रह है।

दूसरे भागमें— ' वैदिकराष्ट्रगीत, राजाका कर्तव्य, राष्ट्रका अभ्युदय, राजाका चुनाव, शत्रुका नाश, शत्रुपर विजय, युद्धनीति, विजयप्राप्ति, स्वशक्तिका विस्तार, युद्धसाधन ' आदि कई राज्यशासन-विषयक बातोंका वर्णन है।

तीसरे भागमें— ' पवित्र गृहस्थाश्रम, कुलवधू एवं पतिका नाम, वर और कन्याके गुण एवं उनका चुनाव, वैदिकविवाहका स्वरूप, धनार्जन, गोरक्षण, आदर्शपतिपत्नी, वीरपुत्रकी उत्पत्ति, रमणीय घर, भाग्यप्राप्ति आदि गृहस्थाश्रमके सम्बन्धमें कई अत्यन्त उपयोगी बातोंकी विशद व्याख्या है।

चौथे भागमें— ' प्राणविद्या, दीर्घायुप्राप्तिका उपाय, अमरशक्तिकी प्राप्ति व उसका उपाय, कल्याणकी प्राप्ति, आत्मरक्षण, वर्चप्राप्ति, रोगनिवारण, यक्ष्मानाश, विषनाश, आनुवंशिक रोगोंकी चिकित्सा, हिप्नोटिज्म, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा ' आदि कई विषयोंका वर्णन है।

पांचवें भागमें— ' मेधाजनन, मेधाकी प्राप्ति, मित्रतावर्धन, वनस्पतिविज्ञान, ब्रह्मचर्य, संगठन, मातृभूमिकी रक्षा, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रपोषण, धनप्राप्ति एवं आन्तरिक तथा बाह्यशक्तियों पर विजय ' आदि कई उल्लेखनीय बातोंका वर्णन है।

सभी भाग मूलमंत्र, अर्थ, भावार्थ, तथा स्पष्टीकरणसे युक्त डबलक्राऊन ८ पेजी साइजके कीमती पेपरसे समृद्ध एवं आकर्षक गेटअपसे सम्पन्न है। प्रत्येक भागका कीमत १० रु. (डा. व्य. पृथक्) है। भागोंकी छपाई सीमित संख्यामें ही हुई है। अतः न पानेकी निराशासे बचनेके लिए आज ही अग्रिम धन भेजकर पार्सलसे या वी. पी. से मगायें। मुफ्त सूचीपत्रके लिए लिखें—

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, पोस्ट- ' स्वाध्याय-मंडल (पारडी) ' पारडी [जि. बलसाड]

मुद्रक और प्रकाशक- श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. ' स्वाध्याय-मंडल (पारडी) ' पारडी [बलसाड]